Cash Memo Phone: 22—1800

epin Behari Paul

D CHINA BA/AR ST CAI CUTTA—1

Dated, _______________195

Description	Rate	Rs	As	P
Sales Tax				
Total Rs				

ze sold can t be refunded

nd oversight if any in prices charged please draw our
ion for rectification

सनातन-जैन-ग्रन्थमाला पुष्प २४ ।

श्रीऋषभदेवाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचितः

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्रीयसंस्कृतटीकया

सिद्धान्तशास्त्रि पण्डितप्रवर गौरीलालरचितै

पञ्जिकाटिप्पणीहिंदीभाषानुवादैः

हृदयंगमेनाऽनुक्रमणिकया च समलङ्कृत

म च

श्रीमत् श्रेष्ठिवर्य मोतीचन्द्ररामजसावलच द्रव्य रंगवासिन्या

धर्मपत्न्या जड़ावबाई इत्यनया प्रदत्तसहायतया

भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्थाया मन्त्रिणा

व्याकरणशास्त्रि पंडित श्रीलालजैन काव्यतीर्थेण

जैनसिद्धान्तप्रकाशक पवित्रमुद्रणालये मुद्रयित्वा

१४८ वाराणसीघोषस्ट्रीट कलिकात्तातः

प्रकाशित ।

श्रीवीराब्दः २४६४

विक्रमाब्दः १९९४

श्रीसमन्तभद्रभारतीस्तवनम्

संस्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीम्।
तंतनीमि पंपठीमि बंभणीमि तेऽमिताम्॥
देवराजनागराजमर्त्यराजपूजिताम्।
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचराम्॥ १॥

मातृमानमेयसिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे।
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचराम्॥
मोक्षमार्गतद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीम्॥ २॥

सूरिसूक्तिवन्दितामुपेयतत्त्वभाषिणीं।
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीम्॥
पूर्वपक्षखण्डनप्रचण्डवाग्विलासिनीम्।
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीम्॥ ३॥

पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणीं स्तुवे।
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः॥
गृद्धपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकाम्।
सिद्धसौख्यसाधिनीं समन्तभद्रभारतीम्॥ ४॥

---

१ स्म-स्मरणस्य यङ्लुकि रू. पुनः पुनः भृशं स्मरामि इत्यर्थः।
२ वेष्ट-परिवेष्टयामि (पुनः पुनः भृशं वा परिवेष्टेऽहमित्यर्थः।

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां ।
वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीम् ॥
योगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे ।
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ५ ॥

माननीतिवाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचराम् ।
मानितप्रभावसिद्धिसिद्धिसिद्धिसाधिनीम् ॥
घोरभूरिदुःखवार्धितारणक्षमामिमां ।
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

सान्तनाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां ।
शून्यभावसर्ववेदितत्त्वसिद्धिसाधनाम् ॥
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां ।
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचराम् ।
पापहारिवाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ॥
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीम् ।
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥



श्री १०८ श्रीचन्द्रसागरजी महाराजका जीवनचरित्र।

आप श्री १०८ श्री आचार्यवर्य श्रीशांतिसागर स्वामीके, प्रधान शिष्य हैं। मुनिवृन्दमें आपकी सानीका दूसरा विद्वान् नहीं। गृहस्थमें भी बड़े बड़े पंडित कहलानेवाले आपकी बुद्धिको प्रणाम करते थे। आप चारों अनुयोगोंके प्रकाण्ड पण्डित और उग्र तपस्वी हैं। संस्कृत प्राकृत मराठी गुजराती भाषायें भी खूब जानते हैं। आपकी उपदेश शैली बड़ी उत्तम प्रभावक है। आप मोक्षकी प्रधान साधनभूत सज्जातीयता, वर्णव्यवस्थाके रक्षक पोषक और प्रचारक हैं इसलिये प्राय मोक्षमार्गविरोधी लोग आपसे अप्रसन्न हो जाते हैं परन्तु आप जिनागमकी आज्ञाके आगे किसीके रोष तोषका ख्याल नहीं करते।

आपने शुभ मिती पौष वदी १३ वि० सं० १९४० को शुभ नक्षत्रमें खण्डेलवाल जाति और श्रेष्ठ पहाड्या गोत्रमें नान्दगांव ग्राममें जन्म धारण किया है। आपके पिताका नाम श्रीनथमलजी और माताका नाम सीता है। आपकी गृहस्थावस्थाका नाम खुशालचन्दजी पहाड़ था। आपने वि० सं० १९७८ में ऐलक पन्नालालजीके समीप बारह व्रत धारण किये थे। इसके बाद कोन्नूर नगरमें पूज्य श्री १०८ श्रीशांतिसागरजी महाराजके

पवित्र उपदेशसे प्रतिमाके व्रत धारण किये। बादमें वि० सं० १९८० फाल्गुण शुक्ला ७ के दिन क्षुल्लकके व्रत धारण किये और आपका नाम क्षुल्लक श्रीचन्द्रसागरजी हो गया। वि० सं० १९८६ अगहन सुदी १५ के दिन आपने पवित्र सोनागिरि सिद्ध-क्षेत्रपर महाव्रत धारण किये। आपकी तपश्चर्या बहुत ही उच्च कोटिकी है। इस वर्ष (वि०सं० १९९४ में) आपने जयपुरमें ससंघ चातुर्मास किया है। आप जैनसमाजके गौरव बढ़ानेवाले आदर्श हैं।



निरुक्ति और अनुवादकारक



जातिभूषण सिद्धान्त शास्त्री

पंडितप्रवर गौरीलालजी पद्माकर।

स्वस्ति श्रीप्रतिश्रुतादिकुलकरेभ्यः।

निरुक्तिकार अनुवादकका परिचय

मथुरा प्रान्तमें बेरनी नामक निगम श्रीपार्श्वनाथ जिन-चैत्यालयसे शोभित है, जहांपर करीब ३०० वर्ष पहले एक श्रीमन्तो नामक सद्गृहस्थ निवास करते थे। जो कि पद्मावती पुरवाल जात्युद्भव पद्माकर गोत्रको अलङ्कृत करनेवाले थे। उनकी सन्तति प्रतिसततिमें श्रीशिवलालजीनामक प्रतिष्ठित सदाचारी सज्जन हुए, जिनके रामलालजी और उदयराजजी नामक दो पुत्ररत्न हुए जो कि शास्त्रस्वाध्याय, जिनपूजन और चर्चा-वार्ता करनेमें उत्सुक रहते थे। जिनमें से ज्येष्ठ भ्राताके तनुज मनीरामजी और गौरीलालजी हुए, तथा दूसरे भाईके प्यारेलालजी, सोनपालजी, वंशीधरजी, खूबचन्दजी और नेमीचन्दजी पांच पुत्र-रत्न हुए। जिनको पिता और पितामहने हिन्दी गणित और महाजनी पढाकर संस्कृत प्राकृत भाषाका भी परिज्ञान कराया। उनमेंसे पं० गौरीलालजीने सदाचारपूर्वक विद्याध्ययन कर जो अपने कर्तव्यका पालन किया है वह अन्य भ्रातृवर्गको भी अनुकरणीय है जिनका परिचय इस प्रकार है।

अनुवादकका परिचय

पंडित गौरीलालजीने अपने जन्मभूमिस्थ राजकीय स्कूलमें पांचवीं कक्षा तक हिन्दी भाषाका अध्ययन किया। अनन्तर

अलीगढ़ दि० जैन पाठशालामें व्याकरण काव्य साहित्यका अध्ययन कर बनारसमें उच्च कोटिके "मनोरमा शेखर फक्किका प्रकाश", न्याय, वैशेषिक, सांख्य, साहित्यदर्पण आदि शास्त्रोंका अध्ययन कर देहलीमें छात्रोंको अध्यापन कराते हुए कपड़ेका व्यवसाय कर आजीविका करते रहे।

कुछ दिन बाद पिताके वियोग होनेपर जवाहरातका भी काम किया फिर स्वदेशी आन्दोलनके समय स्वदेशी कपड़ेका पुनः व्यवसाय शुरू कर दिया।

अनन्तर जलेसरमें स्वदेशी कपड़ोंको तैयार करवा कर आगरा, मालवा आदि प्रान्तोंमें खपत कराते रहे जिससे देशमें स्वदेशी व्यापारमें उन्नतिलाभ कर अर्थलाभ बढ़ाया।

विद्या प्रदान

आपकी प्रीति जैन आर्ष-काव्य न्याय व्याकरण शास्त्रोंमें अधिक बढ़ती रही जिससे अनेक सज्जनोंको प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ाया जनताको सुनाया और विविध पाठशालाओंमें पढ़वानेका प्रयत्न कराया। तथा भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालयका मन्त्रित्वपद स्वीकार कर १२-१४ वर्षतक परीक्षण निरीक्षण कर विद्यार्थियोंको उत्तीर्णपत्र, पारितोषिक प्रदान कर जैन-व्याकरणादि शास्त्रोंका प्रोत्साहन बढ़ाया तथा भा० व० दि० जैन महाविद्यालयका मन्त्रित्व पद स्वीकार कर उसका सञ्चालन किया। दि० जैन गुरुकुल तथा भारतवर्षीय दि० जैन पद्मावती-

परिषद्के मंत्री और उसकी [illegible] [illegible] होकर जलेसरमें समाचीन विद्याका प्रसार किया तथा [illegible] समापति होकर न्याय, नीतिके अनुसार [illegible] और अशिष्टतासे सुरक्षित कर जाति और कुल-रक्षा की, [illegible] साधनोंको दृढ़ किया और कराया तथा संवत् १६७० में जातिकी मनुष्यशुमारी कर उसके स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, विवाहित, अविवाहित, पढ़े ,बेपढ़े और विधवा सधवाओंकी संख्याओंको तथा जैनमन्दिरोंकी गणनाको बतानेवाली पुस्तकको प्रकाशित किया। जिससे जातीय जनतामें विशेष लाभ हुआ और जातीय जनताने आपको कृतज्ञता सूचक "जाति-भूषण" पदवीसे अलंकृत किया। तथा पद्मावतीपुरवाल जातिके विवाहादि संस्कारोंमें जो प्राचीन कालसे जैन-विवाह-पद्धति अनुसार पाडेलोग विवाहसंस्कार कराते हैं उनके पठन पाठनमें जो अशुद्ध पाठ और अशुद्ध मन्त्रोच्चारण थे उनको बहुत अंशोंमें ठीक कराया, तथा बहुतसे आदमी अपने गोत्रोंके नामसे अज्ञात थे उनको ज्ञात करानेका प्रयत्न किया और प्रचारमें लानेका, बोलनेका और समझने समझानेका, बोलने सुनानेका प्रचार बढ़ाया।

आपने मूलबद्रीमें श्रीधवल जयधवल सिद्धान्तग्रन्थोंका स्वाध्याय कर अपने श्रुतज्ञानको बढ़ाया तथा सबोंको सुनाया जिससे श्रीचारुकीर्ति पण्डिताचार्य आदिने आपको सिद्धान्तशास्त्री पदवीसे विभूषित किया।

आप वर्तमानमें श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुराके अधिष्ठातृत्वपदका कार्य सम्पादन कर रहे हैं।

आचार

यद्यपि आपके सदाचार, आत्याचार और धर्माचार साधारणतया उत्तम प्रशसनीय हैं तो भी पारलौकिक धर्मको सिद्धिकेलिये आचार्य श्रीशान्तिसागरस्वामीके निकट संवत २४५८ में सप्तम प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये जिससे कि जनतामें ज्ञान-चारित्रकी एकताको एकाधार कर प्रदर्शित किया।

आपने जैनसिद्धान्त-सम्बन्धी गूढ रहस्योंको, तथा जाति-व्यवस्था सम्बन्धी नीति (Jain law) को स्पष्ट कर लिखा राज्यशासनमें अजमेरका काम देवे इसके लिये पं० नन्हूमलजी मंत्री जैन ला विभागको भारतवर्षीयजैन ला बनानेमें सहायता दी और उसके सम्बन्धमें प्रयत्न किया। तथा जाति पांति तोड़नेवाले त । करेगा, धरेजा, पाट आदिका विवाह बताने वाले नवब्रह्मचारियोंके फन्देसे बचानेके लिये समाचारपत्रों (स्याद्वादकेसरी जैनगजट खण्डेलवाल जैन हितेच्छु आदिमें तथा अपने सम्पादकत्वसे चलनेवाले जैनसिद्धान्तमें) लेख दे कर जैन-जनताको बचाया।

आपने श्री १०८ वर्द्धमान तपोनिधि चन्द्रसागर प्रभृति विद्वानोंके हृदयोंमें जैनेन्द्र व्याकरणको स्थापन (अध्यापन) जागृत कर अपनी कठिनतासे प्राप्त की हुई विद्याको बहुत कालके लिये आज्वल्यमान किया। जिसके प्रभावसे त्यागी व्रतियोंमें जैन आप सम्बन्ध प्राकृत भाषामें भाषामय आचार शास्त्रोंका तथा समन्तभद्रीय श्रावकाचारोंका प्रकाश फैलाया।

आजकल "श्रोत रसवद्" लिखनेकी जो पद्धति है, वह

आपके प्रयाससे ही चालू हुई। श्रीसंघमें उपासकाध्ययन हस्तनाग-पुरकी नाव डालनेमें आपका यत्न प्रधान था।

करीब आपसे ६० -७० वर्ष पूर्व आगे विवाह पठन पाठने का, न्योपरतादि संस्कारोंका तथा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओंके आचार-विचारकी प्रवृत्ति अज्ञान अन्धकारसे ढक गई थी और जैन धार्मिक ज्ञातिया डगमगा रही थीं उनको हस्तावलम्बन देनेके लिये (तथा ज्ञात्याचार कुलाचार धर्मा-चार दर्शनके लिये) श्रीशान्तिसागर जैसे आचार्यों को हि दु-स्थानमें विहार करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। तथा उनके सुपथ्य मुनिराजोंका इधर उधर व्याख्यानरूप व्याख्यानोंके होनेका यम यज्ञादि संस्कार, व्रतिमारूप चारित्रोंका ग्रहण और महा-व्रतोंके धारण करनेका विधान होनेसे जैनधर्ममें प्रभावना बढ़ी तथा जनताकी श्रावकसम्बन्धी आचार-विचारोंको जैन आर्ष-आम्नायानुसार प्रगट जाननेकी उत्कण्ठा हुई इसलिये हम रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी श्री १०८ प्रभाचन्द्र द्वारा रचित संस्कृत टीका सहित तथा वर्तमान देशभाषामें अर्थ और उन कारिकाओं-के गूढ़ रहस्यमय वाक्योंको प्रगट निर्णय द्वारा पदार्थों को बतानेवाले भावार्थके साथ तिलक लिखा। यह समस्त भव्य सन्ततिको लाभकारी होवे इसलिये इसको पुस्तकाकार तयार कर प्रकाशित किया गया है। जिससे जैन जनता (विद्यार्थी और प्रवासियों) के अज्ञानान्धकार दूर होकर शुद्ध अनादिनिधन यह मार्ग उपासकाध्ययन सम तमद्वीप उपासकाध्ययन श्रावकाचारसे विभूषित होकर इहलोक और परलोकमें अभ्युदयको बढ़ाती हुई निर्भयस मार्गमें संलग्न रहें। विनीत —

कीर्तिध्वनि

बोरण (अहमदाबाद) निवासी स्वर्गीय श्रीमान् शेठ मोतीचन्द साकरचन्दजीकी धर्मपत्नी अजवाबाईने मृत्यु-समय पाचसौ रुपये ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमार्थ शास्त्रोद्धार करनेके लिये दिये थे। उक्त द्रव्यसे ग्रन्थत्रयी (तत्वानुशासन, वैराग्यमणिमाला और इष्टोपदेश) ग्रंथ का जीर्णोद्धार किया गया था, उसकी आई न्योछावरसे क्रमशः नित्यनियमपूजा सार्थ एवं बृहज्जैननित्यपाठसंग्रह प्रकाशित कराये गये एवं इन ग्रन्थोंकी आई न्योछावरसे पुनः आज यह चौथा ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रभाचन्द्रीय संस्कृतटीका तथा सिद्धान्तशास्त्री पं० गौरीलाल जी रचित पञ्जिका, टिप्पणी एवं हिन्दी भाषानुवादादि सहित प्रकाशित किया जाता है।

संस्थामें दान किये गये द्रव्यसे दाताकी इच्छानुसार ग्रंथ प्रकाशित कर लागतमात्र न्योछावरसे सर्वसाधारणको दिये जाते हैं और उनका सम्पूर्ण द्रव्य उठ जानेपर दूसरा ग्रन्थ छपाया जाता है।

इसप्रकार एक बार दिये गये दानसे सैकड़ों वर्षोंतक जैनशास्त्रोंका प्रचार होता रहेगा अतः इस परिपाटीसे लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवाले भाइयोंको किसी भी एक जैन-शास्त्रके उद्धार करनेके लिये सहायता देना चाहिये।

—[illegible]

पाठकोंसे अनुरोध।

१– यह पवित्र श्रावकाचार ग्रन्थ आपके समक्ष विराजमान है। इसमें दृष्टिदोष, संशोधनकी भूल, प्रेसकी असावधानी एवं अज्ञानता आदि कारणोंसे अशुद्धि रह जाना सम्भव है अतएव विज्ञ पाठक शुद्ध कर पढ़ पढ़ावें और सुनावें ।

२–प्रभाचन्द्रीय संस्कृत टीका, निरुक्ति और टिप्पणीके पदों व वर्णोंकी शुद्धता-अशुद्धता परस्पर (एकको दूसरेसे) ज्ञात कर शुद्धताको ग्रहण कर यथार्थ करें ।

३—जो पद, वाक्य तथा श्लोक अर्थ अपने जाने हुए अर्थसे विलक्षण भासे उनको संस्कृत श्रीप्रभाचन्द्रीय टीकासे ठीक करना। फिर भी संतोष नहीं होवे तो अन्य आर्ष संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंसे मिलाकर अविरोधी बननेका प्रयत्न करें ।

आशा है श्रावकों, शिक्षक और विद्यार्थीगण दोषग्राही न बनेंगे किन्तु हंसके समान दोषके विवेकी गुणग्राहक बनेंगे ।

यदि धार्मिक बन्धुवर्गोंने इस ग्रन्थसे लाभ उठाया तो अपना प्रयास सफल समझेंगे ।

—प्रकाशक

श्लोकोंकी अकारादि क्रमसे सूची



स्वस्ति श्रीसमन्तभद्रस्वामिभ्य ।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य निर्मित टीकयाऽलङ्कृत ।
अन्वयार्थेन निरुक्तेन पञ्जिकया च विभूषित ॥



समन्तभद्र निखिलात्मबोधन,
जिन प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धन रत्नकरण्डके पर,
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नाना रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्य सम्यग्दर्शनादिरत्नाना पालनोपायभूत रत्नकरण्डकाख्य शास्त्र कर्तुकामो निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वन्नाह, —

नम श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥



स्वस्ति श्रीसमन्तभद्रस्वामिभ्य ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य निर्मित टीकयाऽलङ्कृत ।
अन्वयार्थेन निरुक्तेन पञ्जिकया च विभूषित ॥



समन्तभद्र निखिलात्मबोधन,
जिन प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धन रत्नकरण्डके पर,
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नाना रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्य सम्यग्दर्शनादिरत्नाना पालनोपायभूत रत्नकरण्डकाख्य शास्त्र कर्तुकामो निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वन्नाह, —

नम श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्द्धमानाय' अन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थंकरसमुदायाय वा । कथं ? अव–समन्तादृद्ध परमातिशयं प्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः । 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः । श्रिया बहिरङ्गयाऽन्तरङ्गया च समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मनः आत्मना वा भव्यजीवानां येनाऽसौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । यस्य विद्या केवलज्ञानलक्षणा किं करोति ? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानाम् । कथंभूतानां ? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानाम् । अयमर्थः –यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रीवर्द्धमानाय नमः अस्तु । कथंभूताय श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने । यद्विद्या सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते ।

निरुक्तिः—वर्द्धते इति वर्द्धमानः श्रीसहितो वर्द्धमानः स श्रीवर्द्धमानः । तस्मै श्रीवर्द्धमानाय । निर्धूतानि कलिलानि घातिकर्माणि

१–'वृधुङ् वृद्धौ' इति धोः मत्त्वर् ' ३।३।१२ इति शानच् प्रत्यय । वर्धमानः सन्मतितीर्थङ्कर, तथा च । सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥ इति धनञ्जयनाममाला । २ नमःपदविभक्त्या चतुर्थी 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' २।३।१६ (चतुर्थी विभक्ति)

आत्मन असौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै निर्धूतकलिलात्मने । अथवा निर्धूतानि कलिलानि पापकर्माणि यस्य स निर्धूतकलिल । स चासौ आत्मा स्वरूपो यस्यासौ तथा तस्मै । अलोकेन सहिता सालोकाः तेषां सालोकानाम् । त्रयो लोका त्रिलोका[१] तेषां त्रिलोकानाम् । यस्य विद्या यद्विद्या । दर्पण इव आचरति इति दर्पणायते ॥१॥

अर्थ—श्रीवर्द्धमान स्वामीको नमस्कार होवो । किस प्रकारके वर्द्धमान तीर्थंकरको ? जिन्होंने घातियाकर्म नष्ट कर डाले हैं और जिनका ज्ञान अलोकाकाश तथा तीनों लोकोंके सर्व पदार्थोंको दर्पणके प्रतिबिम्बके समान प्रगट करानेवाला है ॥१॥

विशेष-दर्पण तीन प्रकारके होवे हैं । सूक्ष्मदर्शी१, प्रतिहतदर्शी२, दूरदर्शी३ । जिससे सूक्ष्म (बारीक) स्कन्ध (जीर्णज्वर वालेके रुधिरमे बढे हुवे सूक्ष्म अवयव) तथा शरीरी जीवोंके अंग प्रत्यंगोंको स्थूलरूपसे देख सके उसे सूक्ष्मदर्शी (Microscope=माईक्रोस्कोप खुर्दवीन) कहते हैं । दूसरा जिससे शरीरके मध्यवर्ती चम रुधिर मांस आदिसे ढके हुवे (छिपे हुवे) अस्थि (हाड) नसा जाल आदिका प्रतिबिम्ब लेकर उससे उनकी विकृति स्वस्थता (स्थिरता) आदिको देखसके वह प्रतिहतदर्शी (X Ray=

१-सालोक ।३।३।२४६ इति सहस्य स आदेश ।

२-"क्यट च" २।१।१२ इति क्यड स्य "तदन्ता धव:" २।१।४४ इति धु सज्ञा "डेदितो दः" ६।२।८ इति द ।

एक्सरे) दर्पण है। तीसरा जिससे दूरवर्ती देशोंमें स्थित पर्वत वृक्ष जहाज मनुष्य पशु पक्षी आदिको देखसके— प्रतिबिम्ब लेसके वह दूरदर्शी दर्पण (Telescope=टेलस्कोप) है

लोकमें जो इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थ हैं वह भी तीन प्रकारके हैं। सूक्ष्म पदार्थ जैसे कार्माणवर्गणा, वैक्रियिकवर्गणा आदि स्कन्ध। अंतरित पदार्थ जैसे पर्वत भूमि मिट्टी आदिके पश्चात भागमें स्थित अथवा वर्ष युग कल्प आदि कालसे पहिलेके पदार्थ जैसे रामचन्द्र सीता भरत वर्धमान आदि महापुरुष। दूरवर्ती पदार्थ जैसे संख्यात असंख्यात कोशों दूर देशोंमें स्थित सुमेरुपर्वत, नन्दीश्वर द्वीप, स्वयंभूरमण, सौधर्मस्वर्ग, ब्रह्मलोक इत्यादि तथा संख्यात असंख्यात वर्षोंके पहिले अतीत कालादिमें होते हुवे कुलकर तीर्थंकर राम रावणादि महापुरुष। इन सब प्रकारकी वस्तुओंको जो तीनों लोकोंमें हैं थीं और होंगीं उनको यह श्रीवर्द्धमान स्वामीका कहा हुआ श्रुतज्ञान हम छद्मस्थज्ञानियोंको दर्शाता है। इसलिये इसकी उपर्युक्त दर्पणकी समान उपमा बताई है।

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं लग्नो भवानित्याह—

धर्मोपदेश करनेकी प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
[illegible] सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

'देशयामि कथयामि। कम्? 'धर्मं'। कथंभूतं? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातॄणामिह परलोके चोपकारकम्। कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह 'कर्मनिबर्हणं' यतो धर्मं संसारदुःख-सम्पादककर्मणां निवर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः। अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह। संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि। तेभ्य 'सत्त्वान्' प्राणिन उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति। क? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादि-प्रभवे सुखे, स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अन्वय —अहं समीचीनं धर्मं देशयामि। कथंभूतं धर्मं? कर्म-निबर्हणम्। यः सत्त्वान् संसारदुःखतः उत्तमे सुखे धरति।

निरुक्ति —कर्माणि निवर्हयति इति कर्मनिबर्हणः तम् कर्मनि-बर्हणम्। तत्पुरुष। संसारस्य दुःखानि इति संसारदुःखानि तेभ्य संसारदुःखतः ॥ २ ॥

अर्थ— मैं समन्तभद्राचार्य समीचीन धर्मको कहता हूं। कैसा है वह धर्म? मोहनीय आदि कर्मोंका नाश करनेवाला है तथा प्राणियोंको जन्ममरणरूपी दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम अविनश्वर शाश्वत सुखमें रखनेवाला है ॥ २ ॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह—

धर्मका लक्षण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

१–"तसे" ५।१।११४ इति तस्

यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति ॥३॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं च चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं। सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च। 'धर्मं' उक्तस्वरूपं 'विदुः' विदन्ति प्रतिपद्यन्ते। के ते? 'धर्मेश्वराः' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः। कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि। येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्यक्चीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि। अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ॥ ३ ॥

अन्वय—धर्मेश्वराः सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवपद्धतिः भवन्ति ॥

निरुक्ति—धर्मस्य ईश्वराः धर्मेश्वराः। दृष्टिश्च ज्ञानं च वृत्तं च दृष्टिज्ञानवृत्तानि। सन्ति च (समीचीनानि) यानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि इति सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि। येषाम् इमानि यदीयानि, यदीयानि च प्रत्यनीकानि इति यदीयप्रत्यनीकानि। भवस्य पद्धतिः भवपद्धतिः ॥३॥

१-धर्मस्य उपज्ञातारः अर्हन्तः। २-दर्शनज्ञानचारित्राणां विरोधीनि मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणि। ३-संसारमार्गः।

अर्थ—जिनेन्द्रदेव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहते हैं। इनके जो उलटे हैं (विरोधी दुश्मन हैं) वे ससारके मार्ग हैं॥ ३॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

सम्यग्दर्शनका लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं, सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

सम्यग्दर्शनं भवति। किं? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषाम्? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाणस्वरूपाणाम्। न चेत्र षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्याशङ्कनीयम् आप्तागमश्रद्धानादेव तच्छ्रद्धानसंग्रहप्रसिद्धेः। अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किं विशिष्टानां तेषाम्? 'परमार्थानाम्' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धादिमत इव कल्पितानाम्। कथंभूतं श्रद्धानं? 'अस्मयम्' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्। पुनरपि किं विशिष्टं? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत्। 'अष्टाङ्गं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशङ्कितत्वादीन्यङ्गानि स्वरूपाणि यस्य॥ ४॥

अन्वय—आप्तागमतपोभृतां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति। कथंभूतानाम् आप्तागमतपोभृताम् परमार्थानाम्। कथंभूतं श्रद्धानं त्रिमूढापोढं पुनः अस्मयम्। कथंभूतं सम्यग्दर्शनम् अष्टाङ्गम्।

निरुक्तिः—आप्तश्च आगमश्च तपोभृच्च इति आप्तागमतपोभृतः, तेषाम् आप्तागमतपोभृताम्। परमः अर्थो येषां ते परमार्थाः तेषां

मार्थानां। त्रयो मूढा इति त्रिमूढं। त्रिमूढेभ्य अपोढं त्रिमूढापोढं तम् त्रिमूढापोढम्। अष्टौ अङ्गानि यस्य तत् अष्टाङ्गम्। न सन्ति स्मया यस्मिन् वा यस्य तद् अस्मयम् ॥४॥

अर्थ-अरहन्तदेव जिनागम और निर्ग्रन्थ गुरुका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। कैसे हैं वे तीनों, चारों अर्थोंमेंसे मोक्ष ही है अर्थ जिनोंका। कैसा है वह श्रद्धान? तीन मूढ़ताओंसे रहित है तथा आठ मदोंसे रहित है। कैसा है सम्यग्दर्शन? जिसके आठ अंग है।

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तका लक्षण

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किंविशिष्टेन? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यम्। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन भवितव्यम्। कुत एतदित्याह—'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

१-काम्यादिभिः १।३।३३ इति कापसः पञ्चमी तत्पुरुषः न तु तृतीयः तत्पुरुषः।

व्याधिः । जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः । अन्तकश्च मृत्युः । भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणम् । स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः । रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः । चशब्दाच्चिन्तारतिनिद्राविस्मयमदविषादस्वेदखेदा गृह्यन्ते । एतेऽष्टादश दोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते । ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात् । अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः । तथा हि । भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । जैनेनोच्यते अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा [1] प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः । देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः सम्भवात् । अथ मानसाहारात्तेषां तत्र स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात् । अस्मदाद्यनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र सम्भवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किं न स्यात् । किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजनितत्वप्रसङ्गः स्यात्-तथा हि भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत् । अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासम्भवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः । ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाऽविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात् । वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने साम

ष्यात्। भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अथ यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसङ्गात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासम्भवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुङ्क्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुङ्क्ते। कश्चित् पुनरेकदिनान्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमासवत्सरान्तरितभोजन इति। किं च बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसङ्गात् केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसम्भवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसम्भवो भुञ्जानस्य श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति। नार्हन्भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम्। अस्तु वा तज्ज्ञानसम्भवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुञ्जीत अन्तरायप्रसङ्गात्। गृहस्था अप्यल्पसत्त्वास्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति, किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसङ्गात्। क्षुत्पीडासम्भवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामिताऽस्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यम् "क्षुधासमा नास्ति शरी

स्वेदना" इत्यभिधानात् । तदलमतिप्रसगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्या यकुमुदचन्द्रे प्रपचत प्ररूपणात् ॥ ६ ॥

अन्वयः—यस्य क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मातङ्कभयस्मया राग द्वेषमोहा च न सन्ति स आप्त प्रकीर्त्यते ।

निरुक्ति —क्षुच्च पिपासा च जरा च आतङ्कश्च जन्म च अन्त-कश्च भयश्च स्मयश्च इति क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया रागश्च द्वेषश्च मोहश्च इति रागद्वेषमोहा ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसमे क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद तथा राग द्वेष मिथ्यात्व चिंता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद (मद) स्वेद, खेद ये अठारह दोष नहीं होते वह आप्त कहा गया है। अर्थात् ये अठारह दोष ससारी दुखित प्राणियोंकेही होते हैं किन्तु सर्वज्ञ परमात्माके नहीं रहते ॥ ६ ॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिका नाममालां प्ररूपयन्नाह—

उस आप्तके विशेषण विशिष्ट नाम

परमेष्ठी परंज्योति र्विरागो विमल कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त , सार्व शास्तोपलाल्यते

परमे इन्द्रादीना वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' । पर निरावरण परमातिशयप्राप्त ज्योतिर्ज्ञान यस्यासौ परंज्योति । 'विरागो' विगतो

१—अथ बुभुक्षायाम् इति धो क्विप। क्षायन भोक्तुमिच्छेति क्षुत्।

रागो भावकर्म यस्य । 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' नि शेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः । 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी । 'अनादिमध्यान्त' उक्तस्वरूपाप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्य । 'सार्व' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हित । 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः । एवं शब्दैस्तत्स्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥ ७ ॥

अन्वय'—परमेष्ठी, पर ज्योति विराग विमल कृती सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त' सार्व' शास्ता इति गणधरै उपलाल्यते ॥

निरुक्ति —परमे आर्हन्त्ये पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी । पर ज्योति, यस्मिन् यस्य वा स' परंज्योतिः (केवलज्ञानी) निर्गतो रागो यस्य स' विराग । निर्गतो मल पाप यस्य यस्माद्वा ॥ विमल. । कृत कृत्य येन स कृती । सर्वान् द्रव्यगुणपर्यायान् जानाति ॥ सर्वज्ञः । अनादिश्च मध्यश्च अन्तश्च इति अनादिमध्यान्त । सर्वेभ्य हित इति सार्व' । शास्ति जनान् इत्येव शील: असौ शास्ता ॥

१–परमे वाचि ष्ठा गतिनिवृत्तौ धो इन् "इणोऽव्द्भ "। ४।३।१५७ इति सप्तम्या अलुप् (अलुक्) "सुषमादिषु' ५।४।३७ इति मूर्धन्यषकारादेश । २–"इष्यादे" ४।१।३६ इति इन् । ३–आतः घे ह्वाम ।२।२।३। अनेन सच इति कर्मकारकपूर्वकात् ज्ञा अवबोधने इति धो क त्य । ४–'सर्वाण्णो' वा ३।३।१४ इति हितेऽर्थे णस्त्य । ५–शास अनुशिष्टौ इति धो "शीलधर्मसाधौ" सूत्र २।२।१२०। इति तृन् त्य ।

अर्थ—परमपद जो अरहन्तपद उसमें तिष्ठे विद्यमान रहे सो परमेष्ठी १। उत्कृष्ट है केवल ज्ञानरूपज्योति जिसमें सो परमज्योति २। नष्ट हो गया है रागद्वेषरूप विभाव जिसके सो विराग ३। दूर हो गये हैं मोहनीयादि पाप कर्म जिससे सो विमल। ४ करलीने हैं समस्त करने योग्य काम जिसने सो कृती ५। समस्त गुणपर्यायोंको जाने सो सर्वज्ञ ६। जिसका आदि मध्य और अन्त नहीं सो अनादि मध्यान्त ७। जो सबको हितकारी हो सो सार्व ८। जो जीवमात्रको हितकारी शिक्षा देवे सो शास्ता ९। इत्यादि नाम उस आप्तके कहे हैं। ॥ ७॥

सम्यग्दर्शनविषयभूतासस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह,—

ऐसे ही आप्तका कहा हुआ आगम सम्यग्दर्शनका विषयभूत है ऐसा बताते हैं

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥८॥

'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान्? 'सतः' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकम्। किमात्मनः किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। "परोप

कराय सतां हि चेष्टितम्" इत्यभिधानात् । तथा शास्तानितं कुतोऽवगतमित्याह 'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षणपरै रागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि । शिल्पिकरस्पर्शाद्वादकहस्ताभिघातान्मुरजो मर्दलो ध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते ? नैवापेक्षते । अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारायैव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

अन्वयः—शास्ता अनात्मार्थं रागैः विना सतः हितं शास्ति । शिल्पिकरस्पर्शात् ध्वनन् मुरजः किम् अपेक्षते ? अपितु नापेक्षते ॥८॥

निरुक्तिः—आत्मने इति आत्मार्थम् न आत्मार्थं इति अनात्मार्थम् । शिल्पिनः करौ शिल्पिकरौ । शिल्पिकराभ्यां स्पर्शः इति शिल्पिकरस्पर्शः तस्मात् शिल्पिकरस्पर्शात् ॥

अर्थ—आप्त अपने बिना प्रयोजन तथा रागके बिना ही सत्पुरुषोंको (भव्यजीवोंको) हितकारी शिक्षा देता है । क्या मृदंग बजानेवालेके हाथकी ताडनासे बजता हुआ मृदंग कुछ चाहता है ? या कुछ राग करता है ? कुछ भी नहीं ।

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह,—

आगमका लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम् ।

१—'विनाति' १।४।२८ इति पञ्चम्याः स्थाने तृतीया ।

तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः । अनुल्लंघ्यं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लंघ्यमादेयं । कस्मात्? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः । 'अदृष्टेष्टविरोधकं' दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत् प्रतिदेशकं ततो दृष्टेष्टाविरोधकम् । एवंविधमपि कस्मादवगतं? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं तत्तस्तत्सारमिति ॥ ९ ॥

अन्वय—आप्तोपज्ञम् अनुल्लंघ्यम्, अदृष्टेष्टविरोधकम् तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं कापथघट्टनं शास्त्रं भवति ।

निरुक्ति—आप्तस्य उपज्ञमिति आप्तोपज्ञम् । न अन्यैः उल्लंघयितुं योग्यं तत् अनुल्लंघ्यम् । न दृष्टे इष्टे विरोधः यस्य तत् अदृष्टेष्टविरोधकम्[1] तत्त्वानाम् उपदेशः इति तत्त्वोपदेशः

१—विरुन्धन्ति प्रतिबध्नन्तीति विरोधकाः । 'ण्वुल्तृचौ' ३।१।१३३ इति ण्वुः । इष्टस्य विरोधका इति इष्टविरोधकाः । न दृष्टाः प्रत्यक्षीभूता इष्टविरोधका यस्य तत् तथा, अथवा न दृष्टानि इष्टविरोधकानि बाधकानि सूत्राणि यस्मिन् तत् । अथवा न [illegible] प्रत्यक्षसिद्धस्य इष्टस्य [illegible] यस्य [illegible] यस्मिन् तत् । [illegible]

तत्त्वोपदेशं कृतवत् इति तत्त्वोपदेशकृत् (क्विप् प्रत्ययः) सर्वेभ्यो हितम् इति सार्वम् । कुत्सितः पन्था इति कापथः । कापथो घट्यतेऽनेन इति कापथघट्टनम् ॥

अर्थ–जिसको प्रथम आप्तने कहा हो, जो दूसरोंसे खंडित नहीं किया जा सके, नहीं है तत्त्वोंमें विरोध जिसके

इति पक्षः । अनुल्लङ्घ्यत्वादिति हेतुः । यद् यदनुल्लङ्घ्यं भवति तत्तदाप्तोपज्ञं भवति यथा मोक्षशास्त्रम्, तथैव रत्नकरण्डश्रावकाचारं अनुल्लङ्घ्यं । तस्मात् आप्तोपज्ञं एव । यच्चानुल्लङ्घ्यं न भवति (उल्लङ्घ्यं भवति) तदाप्तोपज्ञं हि न भवति यथोन्मत्तवचनम् । अत्र श्रावकाचारे अनुल्लङ्घ्यस्य निषेधो न वर्तते तस्मादाप्तोपज्ञत्वस्यापि निषेधो न वर्तते । इदं रत्नकरण्डश्रावकाचारशास्त्रं हि अनुल्लङ्घ्यं भवति अदृष्टेष्टविरोधकत्वात् । यद् यददृष्टेष्टविरोधकं भवति तत्तदनुल्लङ्घ्यं भवति यथा महापुराणम् । यच्चानुल्लङ्घ्यत्वं न भवति तच्चादृष्टेष्टविरोधकत्वमपि न भवति । यथा रथ्यापुरुषवचनम् । अयं श्रावकाचारं अदृष्टेष्टविरोधकत्वात् तत्त्वोपदेशकृत्त्वात् इत्यादि । अयं हि तत्त्वोपदेशकृत् सार्वत्वात् इत्यादि । अयं हि सार्वं-कापथघट्टनत्वात् । इत्यादि अनुमानप्रयोगाः शेषाः पाठकैर्नियोजनीयाः ।

१–"का पथ्यक्षे" ४।३।२७१ इति कु शब्दस्य का आदेशः "ऋक्पूरप्धूःपथामानक्षे" ४।२।६० इति समासान्तः अत्यः । कापथपूर्वक घट्ट धो' "करणाधारे चानट्" २।३।११२ इति अनट् ग्यः ।

तथा तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला हो, सर्व भव्यजीवोंका हितकारी हो और खोटेमार्गको दूर करनेवाला हो वही शास्त्र है ।

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह -

गुरुका लक्षण

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरत्न स्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकाङ्क्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकाङ्क्षारहित । 'निरारम्भ' परित्यक्तकृष्यादिव्यापार । 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित । 'ज्ञानध्यानतपोरत्न' ज्ञान ध्यानतपास्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो य स तपस्वी गुरु 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

अन्वय -स तपस्वी प्रशस्यते, स क १ य विषयाशावशातीत निरारम्भ अपरिग्रहः ज्ञानध्यानतपोरत्नं ॥१०॥

निरुक्ति -विषयानाम् आशा विषयाशा । विषयाशाया वश विषयाशावश । तेन (विषयाशावशेन) अतीत इति विषयाशावशातीत । निर्गत आरम्भो यस्मात् स निरारम्भ । नास्ति परिग्रहो

१-तपासि विद्यन्ते यस्य स तपस्वी । "मायामयामेघास्रज तपोऽसो विन् ४।१।४२ इति विन् । मत्वर्थ स्वौ"१।३।१२६ इति भ-सज्ञात्वात् -"पदान्त आसम्' १।३।१०४ इति पदसज्ञाया बाधितत्वात् रि ग्रन्थो न भवति ।

यस्य इति अपरिग्रह । ज्ञान च ध्यान च तपश्च इति ज्ञानध्यान तपांसि । तानि रत्नानि यस्य स "ज्ञानध्यानतपोरत्नः" रक्त इति पाठे तु ज्ञानध्यानतपस्सु रक्त इति ज्ञानध्यानतपोरक्तः ॥

अर्थ-वे गुरु प्रशसनीय हैं, कौनसे ? जो विषयोंकी आशाओंसे रहित है, आरभरहित है और ज्ञान ध्यान तथा तपमें लवलीन हैं। अथवा ज्ञानध्यान और तप हैं रत्न जिनके। अर्थात् उनके पास ये रत्न विद्यमान हैं। किन्तु अन्य परिग्रह नहीं है ॥१०॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशकितत्वगुणस्वरूप प्ररूपयन्नाह —

निरशङ्कित अङ्गका, लक्षण कहते हैं ।

इदमेवेदृशमेव, तत्त्व नान्यन्न चान्यथा । इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसशया रुचि ॥११॥

'रुचि' सम्यग्दर्शन । 'असशया' निःशकितत्वधर्मोपेता । किं विशिष्टा सती ? 'अकम्पा' निश्चला । किंवत् ? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायस तच्च तदम्भश्च पानीय तदिव तद्वत् खड्गादिगत पानीयवदित्यर्थ । क्व साऽकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' ससारसमुद्रोत्तरणार्थे सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति स मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन् । केनोल्लेखेनेत्याह 'इदमेवेत्यादि' इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षण तत्त्वम् । 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षित । 'नान्यत्'

न। 'न चान्यथा' उक्तलक्षणाद् यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षितम्, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥ ११ ॥

अन्वय –तत्त्वम् इदम् एव, अन्यत् न। तत्त्वम् ईदृशम् एव, अन्यथा न च इति सन्मार्गे आयसाम्भोवत् अकम्पा सा असंशया रुचिः भवति ॥

निरुक्ति –तस्य भावः तत्त्वम्[1], अन्येन प्रकारेण इति अन्यथा[2] नास्ति कम्पो यस्यां सा अकम्पा, अयसः विकारः इति आयसं[3]। आयसस्य अम्भः इति आयसाम्भः। आयसाम्भः इव इति आयसाम्भोवत्[4]। सन् चासौ मार्गः सन्मार्गः, तस्मिन् सन्मार्गे। नास्ति संशयो यस्यां सा असंशया ॥ ११ ॥

अर्थ–तत्त्व (हितरूप) ये आप्त, आगम, तपस्वी ही हैं और नहीं हैं। ये आप्त आगम और तपस्वी इसही

१–तेषाम् आप्तागमतपोभृतां भावः स्वरूपं इति तत्त्वम्। "भावे त्वतल्" ३।३।१३६ इति त्व त्य। २–प्रकारे था ४।१।१३१ इति था त्य। ३– हेमादिभ्योऽञ् "३।३।१२७ इति विकारे अञ्त्यः। ४–आयसाम्भस इवेति आयसाम्भोवत् 'तस्य" ३।४।१३५ इति वत्। अथवा "सुप इवे" ३।४।१३३ इति वत्। अत्र रत्नकरण्ड-श्रावकाचारे उपासकाऽध्ययने शास्त्रे तत्त्वपदेन आप्तागमतपस्विनामेव ग्रहणम्। इति सर्वाग्रतगत इदम् पदेन अङ्गुल्या निर्देशेन ज्ञायते। नात्र जीवादीनां तत्त्वानां ग्रहणम्। तेषां च स्वरूपोपलक्षणं च तदेव यच्च उपरितनकारिकासु स्वामिभि-रुक्तं स्वयम्।

स्वरूपवाले (लक्षणवाले) हैं अन्य प्रकारके नहीं हैं। इस प्रकार सन्मार्गमें तलवारके पानीके समान निष्कंप (निश्चल) होना सो असक्षया रुचि है ॥ ११ ॥

इदानीं निष्काङ्क्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह —

अनाकांक्षण अंगका लक्षण

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाऽनाकाङ्क्षणा स्मृता

'अनाकाङ्क्षणा स्मृता' निष्काङ्क्षितत्वं निश्चितम्। कासौ 'श्रद्धा'। कथंभूता ? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्याम्। न आस्था अनास्था। तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा साप्यनाकाङ्क्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचि ? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते ? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे।।१२।

अन्वय —सुखे अनास्था इति श्रद्धा अनाकाङ्क्षणा स्मृता। कथभूते सुखे ? कर्मपरवशे, पुन ? सान्ते। पुनरपि दुःखैरन्तरितोदये। पुनरपि पापबीजे।

निरुक्ति —न आस्था अनास्था। कर्मणां परवश इति कर्मपर-

१–नास्ति काङ्क्षणा वाञ्छा यस्यां रुच्यां सा अनाकाङ्क्षणा रुचिः। सांसारिकसुखेषु वाञ्छा न करोतीत्यर्थः।

२–आङ्पूर्वक ष्ठा गतिनिवृत्तौ धो 'गापाल" ३।३।१०६ इत्यनेन अङ्। आस्थीयते निश्चीयते सा आस्था श्रद्धा।

वशः तस्मिन् कर्मपरवशे । अन्तेन सहित सान्त तस्मिन् सान्ते । अन्तरित उदयो यस्य तत् अन्तरितोदयम् । तस्मिन् अन्तरितोदये । पापस्य बीज पापबीज तस्मिन् पापबीजे ॥

अर्थ–सासारिक सुखोंमें "स्थिरता नहीं है" ऐसी श्रद्धा करना सो अनाकाक्षणा रुचि है, सो सासारिक सुख कैसा है ? कर्मोंके अधीन है तथा नाशवन्त है और दुखरूप फलका है उदय (दुखोंकरि मिला हुआ है फल) जिसमें पापका बीज है (पापबन्धका कारण है) ॥ १२ ॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुण सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह–

निर्विचिकित्सा अगका लक्षण ।

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते । निर्जुगुप्सा गुणप्रीति र्मता, निर्विचिकित्सता ॥१३

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता । कासौ ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभाव । क ? काये । किंविशिष्टे ? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते । इत्थभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यता नीते । कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह–'गुणप्रीति' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकत्वलक्षणेन प्रीतिमनुष्यशरीरमेवेद मोक्षसाधक नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुराग । ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति ॥ १३ ॥

अन्वय –व्रतिनां काये निर्जुगुप्सा गुणप्रीति निर्विचिकि-

क्षिना मना। कथं भूते काये स्वभावतः अशुचौ पुनः रत्नत्रय पवित्रिते ॥ १३ ॥

निरुक्ति –निर्गता जुगुप्सा यस्या सा निर्जुगुप्सा। गुणेषु प्रीतिः गुणप्रीतिः। निर्गता विचिकित्सिता यस्या सा निर्विचिकित्सिता। त्रयो अवयवा यस्य तत् त्रयम्। रत्नानां त्रयम् रत्नत्रयम्। रत्नत्रयेण पवित्रितं इति रत्नत्रयपवित्रितं तस्मिन् रत्नत्रयपवित्रिते ॥ १३ ॥

अर्थ–व्रतियोंके शरीरमें ग्लानि नहीं करना किन्तु उनके चारित्रादिगुणोंमें प्रीति करना सो निर्विचिकित्सिता रुचि जानना। कैसा है उनका शरीर? स्वभावसे तो मलिन है किन्तु रत्नत्रयसे पवित्र है ॥ १३ ॥

१–स्वभावेनेति स्वभावतः। 'आद्यादिभ्यस्तसिः' ४।२।९० 'तसे' ४।१।११४ इत्यनया सूत्र। २–गुप् धो 'कित्गुप्तिजः सन् मिपज्यादिनिन्दाक्षमे" ३।१।३ इति निन्दायां सन्। द्वित्वादि कार्य। पुनः "स्यात्" ३।३।१६ अनेन अस्य स्त्रीलिङ्गे टाप् च। 'जुगुप्सा निन्दा ग्लानिरिति यावत्'। निर्गता नष्टा जुगुप्सा घृणा यस्या सा निर्जुगुप्सा।

३–कित रोगापनयने धा मिपज्यायां सन् ततो भूते काले "त" ३।२।१०० इति क्तः, इट् च। विगतं चिकित्सितमिति विचिकित्सितं। निर्गतं विचिकित्सितं यस्या रुचेः सा निर्विचिकित्सिता। चिकित्सायाः निषेधस्य निषेधो यत्र एतादृशा रुचिरित्यर्थः।

४–पूयन्ते दोषा जायन्ते प्राणिनः अनेन इति पवित्रं "इत्र च्चौ दैवते" ३।२।१९२ इति इत्र त्य पवित्रं अद्वन् स जातः मनसि आत्मनि वा अस्य स पवित्रितः।

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह—

अमूढदृष्टि अंगका लक्षण

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं । का? 'असम्मतिः,' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयःसाधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ । क? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ । कथम्भूते? 'पथि' मार्गे । केषां? 'दुःखानां' न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे । तथा 'असम्पृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र । 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र । मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वय—कापथे अपि कापथस्थे असम्मतिः असम्पृक्तिः अनु

१—न पूर्वक मनु अवबोधने स धातु पूर्वोद् सपकाले उत्पूर्वक एत आख्याने दम्य "स्त्रियां क्ति" ३।३।९४ अनेन क्ति । "अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति" ६।४।३७ इति इन्स्य मकारस्य लोपम् । "चोः कुः" ८।२।३० इति चकारस्य ककारादेशः । "ऊति यूति जूति साति हेति कीर्तयश्च" ३।३।९७ इति इरादेश तस्य लोपम् । सम्मति सम्पृक्ति उत्कीर्ति इति पदानि सिद्धानि ।

स चासौ जनश्च ■ आश्रयो यस्या* । अयमर्थ —हिताहितविवेकविकल मतायनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

अन्वय —यत् मार्गस्य वाच्यता प्रमार्जन्ति तत् उपगूहनं वदन्ति कथम् तस्य मार्गस्य ? स्वयं शुद्धस्य । कथंभूतां वाच्यताम् ? बाला-शक्तजनाश्रयाम् ॥

निरुक्ति'—स्वयं च य शुद्ध स्वयं शुद्ध तस्य स्वयंशुद्धस्य। बालाश्च अशक्ताश्च ये जना ते बालाशक्तजना तेषु बालाशक्तजनेषु आश्रयो यस्या सा बालाशक्तजनाश्रया, तां बालाशक्तजनाश्रयाम् ॥

अर्थ–जिस हेतुसे मोक्षमार्गमें आई हुई किंवदन्ती दूर की जाती है उस हेतुको उपगूहन अंग कहते हैं । कैसा है वह मोक्षमार्ग? जो स्वयं ही शुद्ध है। और कैसी है वह किंवदन्ती? जो कि अज्ञानी और असमर्थ जनोंके आश्रयसे हुई है।

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह—

स्थितीकरण अंगका लक्षण ।

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

१–उपेत्य गुह्यते संवियते प्रमाद्यते अनेन हेतुनेति उपगूहनम् गुहूञ् संवरणे धो 'करणाधारे चानट्' ३।३।११७ इति अन 'गोहऽदूपधा ६।४।८९ इति उधारस्य ऊकार ।

'स्थिरीकरणम्' अस्थिरस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थिरं क्रियते स्थिरीकरणमुच्यते। कैः ? 'प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः'। किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां ? 'चलताम्' कस्मात् दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनम् ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥ १६ ॥

अन्वय —तत् प्राज्ञैः स्थितीकरणम् उच्यते। तत् किम् ? यत् दर्शनात् वा अपि चरणात् चलतां जीवानां धर्मवत्सलैः प्रत्यवस्थापनम्।

निरुक्ति —धर्मे धर्मस्य वा वत्सला धर्मवत्सलाः तैः। प्रज्ञा विद्यते येषु प्राज्ञाः तैः प्राज्ञैः। अस्थिरं स्थिरं क्रियते इति स्थिरीकरणम्।

अर्थ—यह श्रुतज्ञानियोंने स्थितीकरण कहा है, जो कि सम्यग्दर्शनसे वा सम्यक्चारित्रसे डिगते हुओंका धर्मप्रेमियों द्वारा फिरसे धर्ममें स्थापन करना है ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्ररूपयन्नाह—

वात्सल्य अंगका लक्षण।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव, सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

१–प्रति अत्र पूर्ववत् [illegible] "[illegible] शिक्षमाप्याता पुराणवेप" [illegible] इति [illegible]
२–वत्स स्नेहोऽस्ति येषु ते [illegible]। ३–"[illegible]" ४।१।३ इति पाठ्य। ४–"[illegible] सपत्तरि [illegible]" ४।२।६७ इति [illegible]। 'अस्य [illegible]' [illegible] इति [illegible]।

'वात्सल्य' सधर्मिणि स्नेह । 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते । काऽसौ ? 'प्रतिपत्ति' पूजाप्रशसादिरूपा । कथ ? 'यथायोग्यम्' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमनप्रशसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा । कान् प्रति ? 'स्वयूथ्यान्' जैनान् प्रति । कथभूता 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थ । अत एव 'अपेतकैतवा' अपेत विनष्ट कैतव माया यस्या ॥ १७ ॥

अन्वय – स्वयूथ्यान् प्रति यथायोग्य प्रतिपत्ति वात्सल्यम् अभिलप्यते । कथभूता प्रतिपत्ति ? सद्भावसनाथा । पुन अपेतकैतवा

निरुक्ति – स्वस्य यूथे भवा स्वयूथ्या॰ तान् स्वयूथ्यान् । सद्भाव सनाथा सद्भावसनाथा । अपेत कैतवो यस्या वा यस्या सा अपेतकैतवा । ये ये योग्या इति यथायोग्यम् । वत्सलस्य भाव: कर्म वा वात्सल्यम् । अभित लप्यते इति अभिलप्यते ॥ १७ ॥

अर्थ-अपने यूथवालोंका (धार्मिक भाइयोंका) यथा

१–स्वयूथ्यान् प्रति अत्र भागे चानुप्रतिपरिणा" १।४।९४ इत्यनेन सम्बन्धे द्वितीया । मधमाणा अद्वाणा भव्याना सत्कार–पुरस्कार इति भाव । २–अप गि पूर्वक इण धो स त्य । यसे 'त' ३।४।२५ इति पुव प्रयोग । ३–योग्यताय प्रमचो योग्या योग्यतामुबे" ३।४।११८ इति य त्य । 'पुन यावद्वय यौयानिबे १।३।८ इति हस । ४–वत्स स्नेहो विद्युयते येषा ते वत्सला तेषा भाव कर्म वा वात्सल्यम् । कगकारके वा विभक्ती । ५–अभि पूर्वक लपव्यक्ताया वाचि धो कर्मणि लट 'गे यक्" २।१।८० इति यक । "डौ" १।२।७ इति लट स्थाने द: ।

निरुक्ति —अज्ञानम् एव तिमिरम् अज्ञानतिमिरम्। अज्ञानतिमिरस्य व्याप्तिः इति अज्ञानतिमिरव्याप्तिः, ताम्। यथा अनतिक्रम्य वर्तते इति यथायथम्। जिनस्य शासनं जिनशासनम्। जिनशासनस्य माहात्म्यं जिनशासनमाहात्म्यम्। जिनशासनमाहात्म्यस्य प्रकाशः इति जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः ॥१८॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारको दूर कर यथार्थ पूर्वापर विरोध रहित ऐसे जिनशासनके महत्त्वका प्रगट करना सो प्रभावना अंग है ॥

इदानीमुक्तनिःशङ्कितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह—

इन अंगोंके पालन करनेवाले ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषोंकी आदर्शनीय नामावलि कहते हैं।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमतिः स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥२०॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशङ्कितत्वादीन्यष्टाङ्गानि युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशङ्कितत्वेऽङ्गस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचौरः स्मृतो निश्चितः। द्वितीयेऽङ्गे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचौरादन्याऽनन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता। तृतीयेऽङ्गे

निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यता गतो मतः। तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता! ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्त. श्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मत । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेण स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः। विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयोर्लक्ष्यता गतौ मतौ। गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तव्यक्तिबहुत्वापेक्षया ॥१९।२०॥

अन्वय –तावत् अगे अजनेचौरे । तत अनन्तमति स्मृता । तृतीये अगे उद्दायन , अपि तुरीये अगे रेवती मता। तत. पञ्चमे अगे जिनेन्द्रभक्त तत पर अन्यो वारिषेणः। शेषयो सप्तमाष्टमांगयोः विष्णु च वज्रनामा, लक्ष्यता गतौ ॥

निरुक्ति –अञ्जनश्चासौ चौरश्च अञ्जनचौरः ॥१९।२०॥

अर्थ—उपर कहे अनुसार सम्यक्त्वके आठ अगोंमें

१–चुराशीलमस्येति चौर । "छत्रादिभ्य " ४।४।६२ इत्यण ।
२–त्रयाणा पूरण तृतीयम् "त्रे स्तु च" ५।२।५५ इति त्रि शब्दस्य तृ आदेशः तीय प्रत्ययश्च । ३–चतुर्णा पूरण तुरीयम् "छयौ च लु च" ४।१।७ इति [illegible] स्य चकारस्य च लुक्। ४–वारी गजबन्धनभूमि सेना यस्य स वारिषेण "पत्यय " ८।३।८७ इति मूर्धन्य षकारादेश 'प्राक्पदस्यात्तः ' ८।४।१०० इति णकारादेशश्च।
५–लक्षयितुं दिदृक्षुसाहतुं योग्या अर्हा समर्था इति लक्ष्या आदर्शनीया "तृज यारचाह " ३।३।१६० । इति य त्य तेषां भावो लक्ष्यता तान् तथा।

जो प्रसिद्ध हुवे हैं वे क्रमसे इस प्रकार हैं। प्रथम अगमें अजनचोर। दूसरे अगमें अनतमति। तीसरेमें उद्दायन राजा तथा चतुर्थमें रेवती राणी प्रसिद्ध हुई है। पाचवे अगमें जिनेन्द्रभक्त उसके आगेके अगम वारिषेण राजा बाकी सातवे आर आठवे अगमे विष्णुकुमार आर वज्र कुमार ॥१९।२०॥

तत्र निःशङ्कितत्वेऽञ्जनचोरो दृष्टान्तत्वं गतोऽस्य कथेयम्

यथा धन्वतरिविश्वलोमौ सुकृतकर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ सजातौ। चा यो मस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवास कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्ट। ततोऽमित-प्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमु गृहस्थ ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोपि न चलितो ध्यानात्। तत प्रभाते मायामुपसहृत्य प्रशस्य आकाशगामिनी विद्या दत्ता। तस्मै कथितं च तवेय सिद्धा यस्य च पचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पवटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्ट क भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवन्दनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभ सजात इति कथिते तेनोक्तम्। मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वन्दनाभक्तिं करोमीति। तत श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्त। तेन च कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपाद दर्भशिक्य बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गन्धपुष्पादिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये

प्रविश्य षष्ठोपवासेन पञ्चनमस्कारानुच्चार्य छुरिकयैकैकं पादं छिन्द-
न्नधो ज्वलत्प्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिन्तितं, यदि
श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शङ्कितमना वारं वारं
चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालराज्ञः कनकराज्ञी-
हारं दृष्ट्वाऽञ्जनसुन्दर्या विलासिन्या रात्रावागतोऽञ्जनचौरो भणितः
यदि मे कनकराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्ता त्वं नान्यथेति। ततो गत्वा
रात्रौ हारं चोरयित्वाऽञ्जनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽङ्गरक्षैः
कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले बटुकं
दृष्ट्वा तस्मान्मन्त्रं गृहीत्वा निःशङ्कितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वं
शिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं ममादेशं देहीति।
तेनोक्तं जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये
जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः (धृतः)। पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा तेन
भणितं यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेशं देहीति।
ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलाशे केवलमुत्पाद्य मोक्षं
गतः ॥ १ ॥

निःकाङ्क्षितत्वेऽनन्तमती दृष्टान्तोऽस्याः कथा।

अङ्गदेशे चम्पानगर्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्ठी
प्रियदत्तस्तद्भार्या अङ्गवती पुत्र्यनन्तमती। नन्दीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना
धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतम्। क्रीडयाऽनन्तमती
च ग्राहिता। अन्यदा सम्प्रदानकालेऽनन्तमत्योक्तं तात! मम त्वया ब्रह्म-
चर्यं दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्म-
चर्यं दापितम्। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीडा। ननु पुत्रि! नन्दीश्वरा-

द्दिनान्येव व्रतम् तव न सर्वदा दत्तम् । सोवाच ननु तथा भट्टारकैर-विवक्षितत्वादिति । इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वन्ती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आन्दोलयन्ती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुण्डलमण्डितनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । किमनया विना जीवितेनेति संचिन्त्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपन्ती तेन सा नीता । आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्या समर्प्य महाटव्यां मुक्ता । तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छन्तीं भोक्तुमारब्धा । व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः । देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता । सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः । तेन चानीयायोध्यायां कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता । ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा । नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः । तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता । रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षान्तिकया श्राविकेति मत्वा अतिगौरवेण धृता । अथानन्तमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वन्दनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजस्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे सन्ध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान् । प्रभाते तस्मिन् वन्दनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षान्तिकाया श्राविका

जिनदत्तभार्यया श्याकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिका गता। वन्दनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्याऽनतमतिं स्मृत्वा गद्गदितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितम्। यया गृहमण्डनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवं कृतं। अनन्तमत्या चोक्तं—तात! इदानीं मे तपो दापय दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षान्तिकापार्श्वे तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः॥ २॥

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टान्तोऽस्य कथा।

एकदा सौधर्मे देवेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सागुणः प्रशंसितः। तं परीक्षितुं वासवदेवः उदुम्बरकुष्ठकुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हर्म्ये विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वाऽतिदुर्गन्धं बहुवमनं कृतवान्। दुर्गन्धभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितम्, हा हा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निन्दयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपो गृहीत्वा मुक्तिं गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव॥ ३॥

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः चन्द्रशेखर

पुत्राय राज्य दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जात.। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ताचार्य. पृष्ट.। किं कस्य कथ्यते ? भगवतोक्त सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीय.। त्रि पृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्त। तत. क्षुल्लकेनोक्त। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशाङ्गधारिणोऽन्येषां नामापि भगवान् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिं गत.। तत्र गतस्य च भव्यसेनेन सम्भाषणमपि न कृत। कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणाङ्कुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शित. तं दृष्ट्वा "आगमे किलैते जीवा कथ्यन्ते" इति भणित्वा तत्रारुचिं कृत्वा तृणोपरि गत. शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽग्रे स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतम्। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितम्। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गता । रेवती कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकै. प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशङ्खादिधारकं वासुदेवरूपं, पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शङ्कररूपम्, उत्तरस्यां दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यङ्कस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितम्।

तत्र च सर्वलोका गता रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोप्यय मायावीत्युक्त्वा स्थिताः। अन्ये दिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीणशरीरक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीप-मार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः। तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतम्। तदपनीय हा! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तेन मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः। वरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्यं दत्त्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव॥ ४॥

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि निशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारम्पर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तिश्रेष्ठिना नीत्वा

दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः । एकदा क्षुल्लकः पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः । स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः । मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः । तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान् । कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना—मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता । ततस्ते तस्य प्रमाणं कृत्वा गताः । स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः । एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यम् ।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः । तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः । ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता । रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्युच्चोरेणोक्तं—प्रिये ! किमेवं स्थितासीति । तयोक्तं—श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुद्धीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः । तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थः वारिषेणकुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः । कोट्टपालैश्च तं

तयालोक्य श्रेणिकस्य कथितम् देव ! वारिषेणश्चौर इति । त श्रुत्वा तेनोक्त-मूर्खस्यास्य मस्तक गृह्यतामिति । मातङ्गेन यो ऽसिः शिरो ग्रहणार्थं वाहित स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव। तमतिशयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेण क्षमां कारित । लब्धाभयप्रदानेन विद्यु च्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्ध, । तेन चोक्त मया पाणिपात्रेण भोक्तव्यमिति । ततो ऽसौ सूरसेनमुनिसमीपे मुनिरभूत्। एकदा राजगृहसमीप पलासकूटग्रामे चर्यार्था स प्रविष्ट । तत्र श्रेणिकस्य यो ऽग्निभूतिर्मन्त्री, तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापित चर्यां कारयित्वा स सोमिल्ला निजभार्या पृष्ट्वा प्रभुपुत्रत्वाद्बालसखि-त्वाच्च स्तोक मार्गानुव्रजन कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गत । आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिक दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दना कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवण कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितो ऽपि सो-मिल्ला न विस्मरति । तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रा कृत्वा वर्ध-मानस्वामिसमवसरण गतौ । तत्र वर्धमानस्वामिन पृथिव्याश्च सम्ब-न्धिगीत देवैर्गीयमान पुष्पडालेन श्रुत । यथा

"मइल कुचेली दुम्मनी नाहे पवसिय एण।(नाहेय वसियएण) कह जीवे सइ धणियघर उज्झते हियएण ॥"

एतदात्मन सोमिल्लायाश्च सयोज्य सत्कण्ठितश्चलित. । स वारि-षेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगर नीत । चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेण किं चारित्राच्चलित ? आगच्छतीति सविकल्प परीक्षणार्थं सरा गवीतरागे द्वे आसने दत्त । वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्त मदी-यमन्त पुरमानीयता ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्या सालङ्का

रा आनीता। ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयम् युव राजपदं च त्वं गृहाण। तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीवलज्जितः परं वैराग्यं गतः परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति ॥ ६ ॥

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा राजा तस्य बलिर्बृहस्पतिः प्रह्लादो नमुचिश्चेति चत्वारो मन्त्रिणः। तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्याने स्थितः। समस्तसंघश्च वारितः राजादिकेऽप्यायाते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति। राज्ञा च धवलगृहस्थितेन पूजाहस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति। तैरुक्तं क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति। वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मन्त्रिसमन्वितो गतः। प्रत्येकं सर्वे वन्दिताः। न च केनापि आशीर्वादो दत्तः। दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मन्त्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः। एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं "अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति। एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः। अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः। यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितं तव शुद्धिश्च भवति। ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्स-

गेणु स्थितः। मन्त्रिभिर्वादितिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छ-
द्भिस्तैरेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हन्तव्यः इति
पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गीर्णाः । कम्पितनगरदे-
वतया तथैव ते कीलिताः । प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः । रुष्टेन
राज्ञा "क्रमागता इति न मारिताः गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा
निर्धाटिताः । अथ कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी
लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च । स एकदा पद्माय राज्यं दत्वा महा-
पद्मो विष्णुना सह श्रुतसागरचन्द्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः । ते च
बलिप्रभृतयः आगत्य पद्मराजस्य मन्त्रिणो जाताः । कुम्भपुरदुर्गे च
सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति । तद्ग्रहणचि-
न्तया पद्मं दुर्बलमालोक्य बलिनोक्तं किं देव ! दौर्बल्ये कारणमिति ।
कथितं च राज्ञा । तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहा-
त्म्येन दुर्गं भङ्क्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः । तेन पद्म-
स्यासौ समर्पितः । देव ! सोऽयं सिंहबल इति । तुष्टेन तेनोक्तं वाञ्छितं
वरं प्रार्थयेति । बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति ।
अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतयस्तत्रा-
गताः । पुरक्षोभाद्बलिप्रभृतिभिस्तान् परिज्ञाय "राजा एतद्भक्तः" इति
पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्ववरं प्रार्थितः -सप्तदिनानि अस्माकं
राज्यं देहीति । ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य
स्थितः । बलिना च आतापनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन्
वृत्त्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः । उच्छिष्टसरावच्छागादि-
जीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः ।

संन्यासेन स्थिताः । अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे बहिर्विनिर्गतश्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन (निमित्तशास्त्रज्ञानेन) ज्ञात्वा भणितं—महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्टं भगवन् ! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? हस्तिनापुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशतयतीनामुपसर्गः । स कथं नश्यति ? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति [redacted] नाशयति । एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति सञ्चिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः । स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः । ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः—किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः । भवत्कुले केनापीदृशं न कृतम् । तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मणरूपं कृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतम् । बलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते । तेनोक्तं—भूमेः पादत्रयं देहि । ग्रहिलब्राह्मण ! बहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे तं पादं दत्वा बलिं बद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः । ततस्ते चत्वारोऽपि मन्त्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः । ते मन्त्रिणः श्रावकाश्च जाता इति ॥ ७ ॥

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनापुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितम्। माम! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेति। न च गर्वितेन तेन दर्शितः। ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्त्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मन्त्रिपदं लब्धवान्। तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान्। एकदा तस्या गुर्विण्या (गर्भिण्या) वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः। ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तानि गृहीत्वा पुरुषहस्ते प्रेषितवान्। स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगमशीलः परिणतो भूत्वा नाभिगिरावातापनेन स्थितः। यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता तद्वार्तां श्रुत्वा बन्धुसमीपं गता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातापनस्थमतिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्त्वा गृहं गता। अत्रान्तरे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्रात्रा राज्यान्निर्घाटितः। सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः। तं बालकं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः। स च वज्रकुमारः कनकनगरे विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः। अथ गरुडवेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिविद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पितबदरीवज्रकण्टकेन लोचने विद्धा। ततश्चलचित्तायास्तस्या विद्या न सिध्यति। ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन

मुद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तया भव-त्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा त्वमेव मे भर्तेत्युक्त्वा परिणीता। वज्रकुमारेणोक्तं तात! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय। तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुराया क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वन्दनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला। सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता। नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रां या त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा। ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः (पट्टराज्ञी) वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवन्दकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टाहारैः पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः। ततो मन्त्रिभिस्तां तदर्थं वन्दको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विलारथयात्रामहाटोपं दृष्ट्वा तया भणितं। देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राजा चोक्तमेवं भवत्विति।

तत्र उर्विला वदति-मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृ-त्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता । तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाक-रदेवादयो विद्याधरास्तद्वृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणि-ताः । उर्विलायाः प्रतिज्ञापूरणाय रथयात्रा कारिता तदतिशयं दृष्ट्वा पूतिगन्धा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥८॥२०॥

विशेष

सम्यग्दर्शन प्रतीति रुचि श्रद्धा श्रद्धान ये पर्यायवाची शब्द सम्यग्दृष्टिके हैं जिसका लक्षण चौथी कारिकामें बताया है। इसके आठ अंग हैं। अङ्ग शब्दका अर्थ अवयव है सम्यग्दर्शन अङ्गी है अवयवी है और निःशंकता आदि उसके अंग हैं ।।। अंग पदका अर्थ साधन और कारण भी है। सम्यग्दर्शन साध्य कार्य है और ये निःशंकता आदि साधन हैं। तथा अङ्गका अर्थ लक्षण-चिह्न भी है। जिसके सम्यग्दर्शन होता है उसके ये निःशंकता आदिक चिह्न-प्रकट होते हैं। उनके नाम निःशंकता १ अनाकाङ्क्षता २ निर्वि-चिकित्सता ३ अमूढता ४ उपगूहन ५ स्थितीकरण ६ वात्सल्य ७ प्रभावना ८ जिनका यथार्थ स्वरूप लक्षण ग्यारहवीं कारिकासे अठारहवीं कारिका तक क्रमसे ग्यारहो

भौरतासे बताया है। इनका विचार विस्तार

अल्पमतादि ज और लाअनुसार प्रकट

इन आठों अंगोंका धारण करो।

जो ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग

निषेधरूप हैं। मजाय (अङ्ग)

कित्सा (ग्लानि) ३ मूढता (मूर्खता) मिथ्यातियोंकी प्रशंसा और स्तुति इनका न होना न करना ऐसा बताया है इनके करनेसे सम्यग्दर्शन अतीचार सहित हो जाता है। मूढतामें विधर्मी मिथ्या दृष्टियोंकी प्रशंसा करना और प्रत्यक्ष स्तुति करना ये दोनों गर्भित हैं अर्थात् शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन पांचों अतीचारोंका वर्णन आ जाता है। और चार अङ्ग विशेष रूप हैं करणीय हैं वे चारों सधर्मियोंमें किये जाते हैं जो इनको नहीं करता है उसके यह सम्यग्दर्शन कदाचित् भी नहीं होता।

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं ? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशङ्क्याह-

उपर्युक्त निःशङ्कितादि अङ्गोंसे ही सम्यग्दर्शन मोक्षका साधक है ? यदि समस्त अङ्ग न हों तो क्या वह संसारका नाशक होगा ? इसका उत्तर कहते हैं—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् २१

दर्शनं कर्तृ । 'जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं । 'छेत्तुम्' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं । कथंभूतं सत्, 'अङ्गहीनं' अङ्गैर्निःशङ्कितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलम् । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह- 'नहि' इत्यादि सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वाङ्गविषवेदनस्य तदपहरणाय प्रयुक्तो मन्त्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'नहि' नैव 'निहन्ति'

स्फोटयति विषवेदनाम् । ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वं युक्तमेव ॥ २१ ॥

अन्वय –अङ्गहीनं दर्शनं जन्मसन्तितिं छेत्तुं न अलं । यथा अक्षरन्यूनं मन्त्रः विषवेदनां न हि निहन्ति ॥

निरुक्ति –अङ्गेन हीनमिति अङ्गहीनम् । जन्मनां संततिः इति जन्मसंततिः ताम् । अक्षरेण न्यून अक्षरन्यूनः । विषस्य वेदना विषवेदना ताम् विषवेदनाम् ॥

अर्थ–अङ्गहीन सम्यग्दर्शन जन्ममरणकी परम्पराका नाश नहीं कर सक्ता जैसा कि हीन अक्षरवाला मन्त्र विषकी वेदनाको दूर नहिं कर सक्ता ।

तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, "त्रिमूढापोढम्" इति । "लोकदेवतापाषण्डिमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवन्ति ।" तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह—

परिपूर्ण अङ्गवाले सम्यग्दर्शनके होते हुये भी जबतक मूढ भावना दूर न किया जायगा तबतक वह संसारका नाश नहीं कर सकता इसीलिये उन तीनों मूढ भावोंका त्याग करना चतुर्थ कारिकामें बताया है । उनका स्वरूप जाने विना त्याग नहीं बनता इसलिये उनका स्वरूप बताते हुवे प्रथम लोकमूढका लक्षण बताते हैं—

१-सं निरंतर तनन संतति निरवच्छिन्नविस्तृति । सं पूर्वक तनु विस्तारे धो क्ति स्त्रिया क्ति " ३।३।८१ इति क्ति
२-विद्लृ लाभे धा "व्यासिश्रन्थ विघट्टिनन्दोऽन " ३।३।१४ इति भावेऽस्त्रलिङ्गे अनः । विद्यते लभ्यते अनुभूयते इति सा वेदना पीडा

आपगासागरस्नान मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च,लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

'लोकमूढम्' लोकमूढत्व । किं ? 'आपगासागरस्नानम्' आपगा नदी, सागर समुद्र, तत्र श्रेय' साधनाभिप्रायेण यत्स्नान न पुन शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण । तथा 'उच्चय ' स्तूपविधान । केषा ? सिकताश्मना' सिकता वालुका, अश्मान पाषाणास्तेषाम् । तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादि । 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेश । एवमादि सर्व लोकमूढ 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

अन्वय —आपगासागरस्नान लोकमूढ निगद्यते । सिकताश्मनाम् उच्चय लोकमूढ निगद्यते । गिरिपात लोकमूढ निगद्यते । च अग्निपात लोकमूढ निगद्यते ॥ २२ ॥

निरुक्ति —आपा समूहो यत्र स आप, आपे गच्छति सा आपगा । आपगाश्च सागराश्च आपगासागरा, । आपगा सागरेषु स्नानम् इति

१-' गमे श्चडः'' ३।२। ८ इति ड स्त्रीत्वे टाप् । २-सगरस्यकिंकरैरिति सगरा तत्पुत्रैः खातः इतीत आगतत्वादित्र ध्वनि तस्येति सागर । ३-उत्पूर्वात् चिञ् चयने धा उपसर्गाद्वृत्ताश्च-सूर्णोऽच्" ३।३। इति अप् । उत् ऊर्ध्व चयनम् उच्चय स्थण्डिलच्छलाभागाणा निम पनमित्यर्थ । ४-दुर्गतो लोकान् दृष्ट्वा स्वयमविच ग माहन मिथ्याचरणमिति लोकमूढम् । ५-गद् व्यक्ताया वाचि कमाण लट् । कर्मणिभिद्यते उपासकाध्ययने इति भाव ।

आपगासागरस्नानम् । सिकताश्च अश्मानश्च इति सिकताश्मान तेषा सिकत रमनाम् । गिरे पातः गिरिपात. । अग्नौ पात इति अग्निपात॰ । लोकस्य मूढ लोकैः मूढ मूढो वा लोकमूढ ।

अर्थ-नदी समुद्रमें स्नान करना लोकमूढता है और चूने पत्थरोंके चबूतरे बनानेमें धर्म समझना लोकमूढता है। पर्वतसे गिरना अग्निमें जलना धर्म जानकर सो सब लोकमूढता है।

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

अब देवमूढताका स्वरूप वर्णन करते हैं।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसा ।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'देवतामूढम्' 'उच्यते' 'यदुपासीत' आराधयेत् । का 'देवता' । कथंभूता, 'रागद्वेषमलीमसा' रागद्वेषाभ्या मलीमसा मलिना । किं विशिष्टः 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी । कया। 'वरोपलिप्सया' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया। नन्वेव श्रावकादीना शासनदेवतापूजाविधानादिक सम्यग्दर्शनम्लानताहेतु प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु सम्यग्देवत्वेन तासा तत्करोति तदा न तम्लानताहेतु । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्रक्षयाचिनमपि ताः प्रयच्छन्त्येव। तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो झटिति न

न हि चक्रवर्तिपरिवाराऽपूजने सेवकाना चक्रवर्तिन. सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

अन्वय –तत् देवतामूढम् उच्यते । तत् किम् ? यत् आशावान् पुरुष, वरोपलिप्सया देवता उपासीत । कथ भूता देवता ? रागद्वेषमलीमसा ॥

निरुक्ति.–वरस्य इष्टस्य उपलिप्सा (उपलब्धुमिच्छा) वरोपलिप्सा तया । आशा विद्यते यस्य स आशावान् । मल विद्यते येषु ते मलीमसा । रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां मलीमसा इति रागद्वेषमलीमसा । देव एव देवता ॥

अर्थ–उस हेतुको देवतामूढ कहते हैं जिससे आशावान् पुरुष इष्टवस्तुके प्राप्त होनेकी इच्छासे देवताओंकी सेवा करता है । कैसे हैं वे देवता जो रागद्वेपसे मलीन हैं

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूप दर्शयन्नाह ·
तीसरी पाखण्डिमूढताका लक्षण बताते हैं–

सग्रन्थारम्भहिंसाना, ससारावर्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिना पुरस्कारो, ज्ञेय पाषण्डिमोहनम् ।२४

१–ज्योत्स्नादीमसश्च ।५।२।११४। इति इमस त्य । मला दोषा विद्यन्ते यासां ता मलीमसा । मलीना मल्युक्ताः इत्यर्थ ।

२–उन्मूकार द्वन्द्वमध्य प्रासो धो मनतात् "स्यात्" २।३।१६ इति अत्य स्त्रियाम् टाप ।

३–हेलादयोपधेश्चनलदत्व ४।२।४६ स्वार्थं तल ।

पाषण्डिमोहनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं । को ऽसौ ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा । केषां ? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां । किं विशिष्टानां ? 'सग्रन्थारम्भहिंसानाम्' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरम्भाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषाम् । तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवं शीलास्तेषाम् । एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नम् सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणम् अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

अन्वय —पाखण्डिनां पुरस्कारः पाखण्डिमोहनम् ज्ञेयम् कथंभूतानां पाखण्डिनाम् ? सग्रन्थारम्भहिंसानाम् पुनः संसारावर्तवर्तिनाम् ॥

निरुक्ति —पाखण्डं विद्यते येषां ते पाखण्डिनः तेषां पाखण्डिनाम् । ग्रन्थश्च आरम्भश्च हिंसा च इति ग्रन्थारम्भहिंसाः । ताभिः सहिताः सग्रन्थारम्भहिंसाः तेषाम् । संसारे आवर्तो इति संसारावर्तो, तेषु वर्तन्ते वर्तयन्तेइत्येवं शीलाः ते संसारावर्तवर्तिनः तेषाम् ॥ २४ ॥

१–पाखण्डिनामुपदेशेन सम्यक्त्या च मोहनं मिथ्यात्वमिति पाखण्डिमोहनम् गुरुमूढतेत्यर्थः । पाखण्ड पाषण्ड उभौ शब्दौ ।

२–अतोऽनेकाच ।४।१।७८। अथवा "द्वन्द्वरुग्गर्ह्यात् प्राणिस्थाद्वात्" ४।१।८८ इत्यनेन च गर्ह्यात् पाखण्डशब्दात् (कपटवेशार्थवाचात्) इन् मत्वर्थे । ३–"चार्थे द्वन्द्वः" १।३।९६ द्वन्द्वः "पुन तेनसहेति तुल्ययोगे" १।३।९५ वसः । ४–वृतु वर्तने धोः कर्तरि हेतुम्नणि वा "शीलेऽनातोणिन्" २।३।७८ इति णिन्

अर्थ–पाखण्डियोंका–कुवेशियोंका सत्कार करना सो पाखण्डिमोहन है। कैसे हैं वे ? परिग्रहसहित आरम्भ सहित और हिंसा सहित हैं इसीसे वे संसारचक्रमें पड़े हुये हैं और पाडनेवाले हैं ॥

कः पुनरयं स्मयः कति प्रकारश्चेत्याह—

जिस प्रकार मूढ भावोंके त्याग करनेसे अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, उसी प्रकार स्मयोंके (मदोंके) त्याग करनेसे उसमें निर्मलता बढती है, ऐसा ज्ञात करानेके लिये स्मयका लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५

'आहु'र्ब्रुवन्ति। कं ? 'स्मयं'। के ते ? 'गतस्मया' नष्टमदा जिना । किं तत् ? 'मानित्वं'। किं कृत्वा ? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुपपन्ना इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात् ॥ २५ ॥

अन्वय–अष्टौ आश्रित्य यत् मानित्वं भवति तत् गतस्मया

१–अष्टौ–अष्टन् जस् शस् च "अष्ट औशः" ७।१।२१

२–आङ् पूर्वक श्रिञ् सेवायां धोः क्त्वा "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७।१।३७ इति ल्यप् आदेशः

स्मयम् आहुः। किं तत् अष्टौ ज्ञानं पूजा कुलं जातिं बलम् ऋद्धिं तपः वपुः ॥

निरुक्ति – गताः स्मया येषां ते गतस्मयाः, मान विद्यते यस्य स मानी। मानिनो भावो मानित्वम्।

अर्थ — आठोंके आश्रयसे जो अभिमान करना, उसको मदरहित आचार्योंने मद कहा है। कौनसे वे आठ। ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि (सम्पदा) [illegible] शरीर ॥ २५ ॥

१–आहु ब्रुवन्ति। "ब्रूञ आहस्थ" सूत्रसे ब्रूञ् धातुको लट् लकारमें प्रथमपुरुष बहुवचन झि को आह आदेश हो गया है।

२–शास्त्रज्ञान शिल्पविज्ञान, १ राजमान्यता प्रतिष्ठा २ वंश सन्तति कुलम्। ३ आपने उत्पन्ने यस्य सा जाति जाति रित्यपि पाठ ज्याति देशभाषायाम्। जैसे "उत्पाति ब्राह्मण" "चारहन्याति ब्राह्मण" इत्यादि वाक्य मारवाड़ मालवा प्रान्तोंमें आदिमें बोले जाते हैं ४। मानसिकशक्ति वचनशक्ति कायशक्ति ५ धन सम्पदा राज्य विभूतिका होना ६। अनेक उपवासादि करनेकी योग्यता ७ शरीरका सुन्दरता प्राप्त होना ८ ये ज्ञानादिक आठों ही पदार्थ उत्तम हैं पुण्योदयसे मिलते हैं यदि इनका आश्रय कर दूसरोंको नीचा दिखाने का मद-रूप दोष है। जैसे विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय खलस्य साधो विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।

,,अनेनाहृविधमदेन चेष्टमानस्य दोष दर्शयन्नाह—

उस मदके करनेसे जो दोष होते हैं उनको बताते हैं।

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान् गर्विताशय ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना ।२६

,, 'स्मयेन' उक्तप्रकारेण 'गर्विताशयो' दर्पितचित्त यो जीव । 'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतान् यान् । 'अत्येति' अवधीरयति अनादरात् तिक्रामतीत्यर्थः । 'सोऽत्येति' अवधीरयति । क ? 'धर्मं' रत्नत्रय । कथभूतम् ? 'आत्मीय' जिनपतिप्रणीतम् । यतो धर्मो 'धार्मिकै' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥ २६ ॥

अन्वय–य गर्विताशय सन् अ यान् धर्मस्थान् अत्येति स आत्मीय धर्मम् अत्येति । धार्मिकै विना धर्मो न भवति ॥ २६ ॥

निरुक्ति –धर्मे तिष्ठतीति धर्मस्था तान् धर्मस्थान् । गर्वित आशय यस्याऽसौ गर्विताशय । आत्मनोऽय आत्मीय तम् । धर्मो विद्यते येषा ते धार्मिका तै । अत्येति अति+एति (इण् गतौ) तिरस्करोति ।

१–"गर्व दर्पे" "गर्व माने" आभ्या कर्तराभ्या धुभ्या क्त रय इडागमश्च । गर्व्यते स्मेति गर्वित इत्त । आङ् पूर्वक शिङ धो य्प्रदृद्बगम्बसरणोऽच ३।३। ४ अनेन अच । आशय अभिप्राय ।

२–आत्मन् शब्दात् दो [illegible] ३।२।१७५ छत्य । ३–धार्मिकै । अत्र "विना तिस्र" ।२।३।३८ अनेन सम्बन्धे तृतीया विहिता । अथवा धर्मं शीलोऽयेषाति धार्मिका । शीलम् ३।३।२१६ इति ठण् न धर्मो धार्मिकैर्विना इति वाक्ये हेतुत्वम् अतएव हेतुरलकार ।

अर्थ-जो मदान्ध (अहङ्कारका आश्रम) होता हुवा अन्य धर्मात्मा चारित्रवान सज्जनोंका तिरस्कार (अवधारणा—अवहेलना) करता है वह अपने ही धर्मका तिरस्कार करता है। क्योंकि धार्मिक सज्जनोंके विना कहीं अन्यत्र तो धर्म रहता ही नहीं। जब उनका तिरस्कार किया गया तो क्या धर्मका तिरस्कार नहीं हुआ?

ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुं शक्य इत्याह—

यदि उत्तम जाति विशेष ज्ञान विज्ञान आदि प्राप्त हैं वे दर्शन मोहनीयके क्षय आदि करनेवालेके हैं या उदयवालेके हैं। यदि क्षयक उपशमक अथवा उभय भावके हैं तो क्या इतनी ही विभूतिसे सन्तुष्ट हो? साम्राज्य लक्ष्मी समवसरण लक्ष्मी निर्वाण लक्ष्मीकी आवश्यकता नहीं समझते? यदि समझते हो तो इस क्षणस्थायी स्वल्प सम्पदासे क्या लाभ। यदि कर्मोदय जनित समझते हो तो वह कितनी देर रहेगी इससे इस सम्पत्ति पर क्या लाभ है ऐसा समझकर धार्मिक पुरुषोंका तिरस्कार करना उचित नहीं है। ऐसा बताते हैं—

यदि पापनिरोधोऽन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्य न्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।

पाप ज्ञानावरणाद्यशुभ कर्म निरुध्यते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भाव ■ यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादे सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजन, तन्निरोधेनोऽप्यनिराया ...

तरादेतत्सम्पद॰ सद्भावमयमुद्रयमानस्य तन्निय धनस्मयस्यानुपपत्ते । 'अथ पापास्त्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मण आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्या दिरस्ति किं प्रयोजन अग्रे दुर्गतिगमनादिकर्मम् अयमुदयमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावस्तन्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥ २७ ॥

अन्वय —यदि पापनिरोधः अस्ति तर्हि अन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् । अथ पापास्त्रव अस्ति तर्हि अन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥

निरुक्ति—पापस्य निरोध इति पापनिरोध । अन्या च सम्पद् इति अन्यसम्पद् तया अन्यसम्पदा । पापस्य आश्रव इति पापाश्रव । प्रकर्षेण युज्यतेऽनेन योजनमात्रं वा प्रयोजनम् ।

अर्थ—जो पापका (मिथ्यात्वका) निरोध होता है तब अन्य विभूतिसे क्या मतलब ? अगर जो पापका (मिथ्यात्वका) आश्रव (बन्ध) हो रहा है तब भी उस पर विभूतिके रहनेसे क्या फायदा है कुछ भी नहीं ॥

यदि मिथ्यात्वका उदय नष्ट हो गया है और वह वर्तमानमें म्लेच्छ है (या पशु भी है) तो भी वह उत्तम है कि [illegible] पर्याय छोड़ने पर सातिशय इन्द्रादिक पदको पावेगा ही इसलिये ऐसे धार्मिक पुरुषोंका तिरस्कार करना उचित नहीं है ऐसा बताते हैं ।

१-समुपर्वात् पद् धोः "सपदादिभ्य क्विप् ति" ३।३।१ इति भावे क्विप् त्य । सम्पद् विभूति । पुण्यफलं च इत्यर्थः

२-आश्रवणम् आश्रवः आङ् पूर्वात् श्रु धो "ऋदोरप्" ... "गमवसूरणोऽच्" २।३।५४ इत्यच् । पाति रक्षति धर्मादिति पापम् औणादिक पत्य । दर्शनमोहनीयम् । तस्य निरोध सम्वर ।

अथेमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ २८॥

'देवम्' आराध्य । 'विदुः' मन्यन्ते । के ते? 'देवाः' "देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो" इत्यभिधानात् । कमपि? 'मातङ्गदेहजमपि' चाण्डालमपि । कथंभूतं? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नम्' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं । अत एव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥ २८ ॥

अन्वय — देवाः मातङ्गदेहजम् अपि देवं विदुः । कथंभूतं मातङ्गदेहजम् । सम्यग्दर्शनसम्पन्नम् पुनः कथंभूतं भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

निरुक्ति— सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नः इति सम्यग्दर्शनसम्पन्नः तम् । देहात् जायते इति देहजः मनुजः मातङ्गस्य देहजः इति मातङ्गदेहजः तम् । भस्मना गूढः इति भस्मगूढः । भस्मगूढश्चासौ अङ्गारः भस्मगूढाङ्गारः अन्तरम् ओजसम् । भस्म गूढाङ्गारस्य अन्तरम् ओजो यस्य सः भस्मगूढाङ्गारान्तरौजाः तं भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

अर्थ — गणधर देव मातंगके पुत्रको भी देव कहते हैं यदि वह सम्यग्दर्शनसे युक्त है और वह
हुए अंगारेके समान अंतरंगमें है ओज।

भावार्थ—यहांपर उपमा उपमेय मात्रसे कहा है। भस्म (राख) के समान तो उस मातङ्गका शरीर है जोकि चाण्डाली और चाण्डालके रजवीर्यसे बना है इससे अनुत्तम है। अङ्गार (अग्नि) के समान जीव है। ओजके समान सम्यग्दर्शन है। इससे उत्तम है। इस प्रकार यह मातंग पुत्र सम्यग्दृष्टि होने पर भी भस्ममें गढ़े हुए जाज्वल्यमान अग्निके समान है। जबतक वह राखमें से नहीं निकलता तबतक उसका प्रकाश कार्यकारी नहीं होता। इसी प्रकार चाण्डाल पुत्रका सम्यग्दृष्टि जीव जबतक उस चाण्डाल शरीरमे रहेगा तबतक उसके चारित्र नहीं हो सकता। किंतु वह एक दो भवमें अवश्य चारित्रवान होगा इसलिये उसको द्रव्यनिक्षेपसे देव कहा है।

एकस्य धर्मस्य विविध फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्मा धर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह—

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका क्रमसे पृथक् पृथक् फल बताते हैं।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्बिषात्
कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ।२९

'श्वापि' कुक्कुरोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देव 'श्वा' जायते कस्मात्? 'धर्मकिल्बिषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्बिषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति। एवं ततः 'कापि' वाचामगोचरा 'नाम' स्फुटं 'अन्या' न पूर्वा द्वितीया वा

'सम्पद् विभूतिविशेषो भवेत् कस्मात् ? धर्मात्। केषां ? 'शरीरिणां' संसारिणां यत एव ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्य ।२९।

अन्वय'--धर्मकिल्बिषात् श्वापि देवो जायते देवोऽपि श्वा जायते नाम शरीरिणाम् कापि अन्या सम्पत् धर्माद् भवेत् ॥

निरुक्ति --धर्मश्च किल्बिषश्चं अनयो समाहार धर्मकिल्बिषम् तस्मात्। शरीराणि विद्यन्ते येषां ते शरीरिण. तेषाम् नाम इत्यव्यय

अर्थ—धर्मसे कुत्ता भी देव हो जाता है। तथा पापसे (मिथ्यात्वसे) देव भी कुत्ता हो जाता है भो भव्य जीव हो! प्राणियोंको कोईक अद्वितीय ऐश्वर्य धर्मसे प्राप्त होता है ॥२९॥

१-धर्मः सम्यक्त्वम्।

-किल्बिषो मिथ्यात्वम्।

३-नाम इति अव्यय 'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। सम्भाव्य कुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते।' इति मेदनी ॥

प्रश्न-सम्यक्त्विता साधक सम्यक्त्व और विपक्षिका साधक मिथ्यात्व है ऐसा समझकर सम्यक्त्वको पूर्णतः प्रकाशित होनेमें बाधा न आवे इसलिये स्मय करनेका निषेध किया है। भावार्थ-उत्तम जाति ज्ञान आदिके आवेशमें आकर धर्मात्मा पुरुषोंका तिरस्कार (अनादर) करनेमें जो स्मय हो जाता है उससे उसके उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य प्रभावना ये गुण (अंग) नष्ट हो जाते हैं इससे इन मदोंका करना ठीक नहीं है।

तेषामुद्धिया दर्शनम्लानतया मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह

अमूढ निर्भेद सम्यग्दृष्टि इन मलिनताओंको न करे ऐसा उपदेश करते हैं ।

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणाम विनय चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टय ॥३०॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वा न कुर्युः । कम् ? 'प्रणाम' उत्तमांगेनोपनतिम् । 'विनय चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षण । केषां ? कुदेवागमलिंगिनाम् । कस्मादपि ? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भय राजादिजनित, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुराग , लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धि , भयाशास्नेहलोभ तस्मादपि । चशब्दोऽप्यर्थ ॥ ३० ॥

अन्वय शुद्धदृष्टय भयाशास्नेहलोभात् कुदेवागमलिङ्गिनाम् प्रणाम च विनयम् एव न कुर्युः ॥

निरुक्ति भयश्च आशा च स्नेहश्च लोभश्च ऐषा समाहार भयाशास्नेहलोभ तस्मात् । देवश्चआगमश्च लिंगी च इति देवागम लिंगिन कुत्सिताश्चते देवागमलिंगिन इति कुदेवागमलिंगिन । तेषाम् । मूढत्रयमदाष्टकेभ्यो मलेभ्य शुद्धा मुग्धा दृष्टि येषां ते शुद्धदृष्टय ॥

अर्थ शुद्ध सम्यग्दृष्टि भयसे आशासे स्नेहसे लोभसे कुदेवोंको कुशास्त्रोंको और कुलिंगियोंको न नमस्कार करे और न विनय (याचना) करे ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमत स्वरूपाभिधान कृतमित्याह-

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनको प्रथम क्यों बताया है। इसका उत्तर कहते हैं।

दर्शन ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधार तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

'दर्शन' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति । क ? 'साधिमान' साधुत्वमुत्कृष्टत्व वा । कस्मात् ? ज्ञानचारित्रात् । यतश्च साधिमान तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते । 'तत्' तस्मात् । 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शन कर्णधार' प्रधान प्रचक्षते । तथैव हि कर्णधारस्य नौ खेवटकैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नाव• प्रवृत्ति । तथा ससारसमुद्रपर्यन्तगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनाव प्रवृत्ति ॥

अन्वय–दर्शन साधिमान ज्ञानचारित्रात् उपाश्नुते । तत् दर्शन मोक्षमार्गे कर्णधार प्रचक्षते ।

निरुक्ति –ज्ञान च चारित्र च अनयो समाहार ज्ञानचारित्रम् तस्मात । साधो भाव• साधिमा तम् साधिमानम् ॥ मोक्षस्य

१–अशूङ् व्याप्तौ इति स्वादि विकरणस्य उप पूर्वस्य धे धो लटि रूपम् । २ प्रपूर्वात् चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि धो लटि अन्यपुरुषस्य च बहुवचने देनत ५।१।५ इति कस्य अद् । प्रचक्षते कथयन्ति । द्वि कर्मकत्वम् । ३–'पृथ्वादेर्वेमन्' ।३।४।१२६ इति भावे इमन् त्य । "कालाध्व भाव देश वाऽकर्म धीनाम्" १।२।१४४ इति भाव स्य कर्मसञ्ज्ञा पुनः "कर्मणीप्" १।४।२ इति इप् विभक्ती । यावत् साधुतायाव्याप्नोति दर्शनमित्यर्थं ।

मार्गे मोक्षमार्गे तस्मिन्। कर्णधारः (नावाधारणकारणम्) धरति पोतपति इति कर्णधारः तम् कर्णधारम् ॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन साधुतामें समीचीनतामें ज्ञान चारित्रसे पहिले ही व्याप्त हो जाता है। इसीसे उस सम्यग्दर्शनको आचार्य मोक्षमार्गमें कर्णधार कहते हैं ॥३१॥

ननु चानयोरुत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुत सिद्धमित्याह —

सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट होनेपर वह कर्णधार हो सकता है इसलिये उसमें उत्कृष्टता बताते हैं।

विद्यावृत्तस्य संभूति स्थितिवृद्धिफलोदया।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते? संभूति स्थितिवृद्धिफलोदया। कस्य? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थ —विद्याया मतिज्ञानादिरूपाया वृत्तस्य च सामायिकादिचारित्रस्य या संभूति प्रादुर्भाव, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चावस्थान, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्ष। फलोदयो देवादिपूजाया स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्ति। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह–बीजाभावे तरोरिव बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरो

१–अत्र करण पदे रकाराग्र वर्तिन अकारस्य न निपातनात्। धनानि द्विनाया।

स्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्त स्यापि ते न सन्तीति ॥ ३२ ॥

अन्वय —यथा बीजाभावे तरो सभूति स्थिति वृद्धि फलोदया न सन्ति तथा सम्यक्त्वे असति विद्यावृत्तस्य सभूति स्थितिवृद्धि फलोदया न सन्ति ॥

निरुक्ति —विद्या च वृत्त च अनयो समाहार विद्यावृत्त तस्य । संभूतिश्च स्थितिश्च वृद्धिश्च फलोदयश्च इति सभूति स्थिति-वृद्धि फलोदया । न सन् इति असन् तस्मिन् असति । बीजस्य अभाव बीजाभाव तस्मिन् ।

अर्थ —जिसप्रकार बीजका अभाव होनेपर वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति बढना तथा फलका प्राप्त होना नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि तथा फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥३२॥

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्ना-न्मुनेरुत्कृष्टस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह —

सम्यग्दर्शन नहीं है और गृहत्यागी हैं तो भी वे उत्तम नहीं है "इसलिये सम्यग्दर्शन प्रधान है" ऐसा बताते हैं ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुने ॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः । इत्थ भूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति

पुन 'नैव' मोक्षमार्गस्थो नहि भवति । किं विशिष्ट ' 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेत । मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थ । यत एव ततो गृहस्थो यो निर्मोह ॥ 'श्रेयान्' उत्कृष्ट । कस्मात ' मुने । कथभूतात् ' 'मोहिनो' दशनमोहयुक्तात् ॥ ३३ ॥

अन्वय'–निर्मोहो गृहस्थः मोक्षमार्गस्थ, भवति, मोहवान् अनगार' मोक्षमार्गस्थ' नैव भवति, अत. मोहिनो मुने निर्मोहो गृही श्रेयान् ॥

निरुक्ति —गृहे तिष्ठति इति गृहस्थ । मोक्षस्य मार्गः इति मोक्षमार्ग. । तस्मिन् तिष्ठति इति मोक्षमार्गस्थ । निर्गत मोहो यस्यासौ निर्मोह । मोहो विद्यते यस्यासौ मोहवान् । नास्ति त्यक्त अगार यस्य येन वा अनगार । गृह विद्यते यस्यासौ गृही । अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेयान् श्रेष्ठ । मनुते जानाति इति मुनि. ।

अर्थ—निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गमें है, किन्तु मिथ्यात्वी साधु मोक्षमार्गमें नहीं है । इसलिये मिथ्यात्वी साधुसे निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

यत एव तत —

इसलिये सम्यग्दर्शन सर्वत्र सर्वदा हितकारी ही है और मिथ्यात्व दुखदायी है ऐसा बताते हैं ।

१–अत्र दर्श'मोहनीय मिथ्यात्वादित्रितय मोहपदेन गृह्यते । "ममोङ्क्षयो मतोर्वोऽपवादिभ्यः" ५।३।४६ इति मस्य वकार ।

२–"गुणाङ्गाद्वेयस्" ४।१।१६३ । पुन "प्रशस्यस्य श्रः" ४।१।१६४ । काभ्याम इयस्–प्रादेशश्च ।

न सम्यक्त्वसमं, किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम्॥

'तनूभृता' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसम' सम्यक्त्वेन सम तुल्य। 'श्रेय' श्रेयस्सुखमोपकारक। 'किंचित्' अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क तन्नास्ति? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपि तु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि तथा 'अश्रेयो' अनुपकारक। मिथ्यात्वसम किञ्चिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीतता तदपकृष्टता व्रजतीति॥ ३४॥

अन्वय -तनूभृतां सम्यक्त्वसमं त्रैकाल्ये अपि त्रिजगति अन्यत् किञ्चित् श्रेय न। अथ तनूभृतां मिथ्यात्वसम त्रैकाल्ये अपि त्रिजगति अन्यत् किञ्चित् अश्रेयो न॥

निरुक्ति'-सम्यक्त्वेन सम सम्यक्त्वसम। त्रयश्च ते काला त्रिकाला। त्रिकाला एव त्रैकाल्य तस्मिन्। त्रयाणां जगतां समाहार त्रिजगत् तस्मिन्। अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेय। तनू बिभ्रति इति तनूभृत तेषाम्॥

---

(१) भेषजादिभ्यष्ट्यञ् ५।४।२८ इति स्वार्थे ष्यञ्।

२-कायो देह क्लीवपुंसा स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनू। इत्यमरे दीर्घ ऊकारान्तोपि तनू शब्द। भृञ् भरणे इति धो क्विप्। पिति कृति तुक्। ६।१।७१ इति तुगागमश्च। शरीरधारिण।

अर्थ शरीरधारियोंको सम्यक्त्वके समान तीनों काल-में और तीनों लोकोंमें अन्य कोई भी सुखकारक नहीं है। तथा प्राणियोंको मिथ्यात्वके समान तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें दुखदेनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३४ ॥

इतोपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह—

सम्यग्दृष्टि हो जानेपर जीव नारकत्व आदि कर्मोंका बन्ध नहीं करता इससे भी यह उत्तम है, ऐसा बताते हैं–

आर्याछंद. ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायु, र्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्य-व्रतिका ॥ ३५ ॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शन शुद्ध निर्मल येषा ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय श्च ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि। नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि त्वशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्व तिर्यक्त्व नपुंसकत्व स्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किंतु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च' अत्रापि ताशब्द' प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वा ते न भवान्तरे "दुष्कुलता" दुष्कुले उत्पत्ति विकृतता काणकुण्ठादिरूपविकारम् अल्पायुष्कताम्, मतर्मुहूर्तादायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिम्। कथभूता अपि एतत्सर्वं न व्रजन्ति 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि।

अन्वय –अव्रतिका अपि सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक तिर्यङ् नपु-

सकस्त्रीत्वानि च दुष्कुलविकृताल्पायु दरिद्रतां न व्रजन्ति ॥ ३५ ॥

निरुक्ति –सम्यग्दर्शनेन शुद्धा सम्यग्दर्शनशुद्धा अथवा सम्यग्दर्शनं शुद्धं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धा । नारकश्च तिर्यङ् च नपुंसकः च स्त्री च इति नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रियः, तेषां भावा इति नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि । दुष्टं च यत् कुलं दुष्कुलं । अल्पम् आयुः यस्य स अल्पायु । दुष्कुलश्च विकृतश्च अल्पायुश्च दरिद्रश्च इति दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्राः । तेषां भावः दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता । ताः । न सन्ति व्रतानि येषां ते अव्रतिकाः । न सन्ति व्रतिनः इति अव्रतिका वा । व्रतिनस्तु सातिशयं पुण्यं बध्नन्ति ।

अर्थ —जो व्रती नहीं हैं और सम्यग् दर्शन करके शुद्ध हैं (सहित हैं) वे नरकगतिको, तिर्यञ्चगतिको, नपुंसकपनेको स्त्रीपनेको, दुष्कुलको, रोगको, अल्पायुको और दरिद्रता को नहीं प्राप्त होते हैं और न इनका बन्ध करते हैं।

यद्येतेसर्वे न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह-

सम्यग्दृष्टि नारकादि पर्यायोंको न बाधता है न पाता है तो कैसी पर्यायोंको पाता है ? इसका उत्तर बताते हैं—

ओजस्तेजोविद्या
वीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथा ।

१–नास्ति र–सुखं यत्र स नरकः 'शेषाद्वा' ४।३।१६४ इति कप्। नरके घर्मादौ जातः इति नारकः "तत्र जातः" ३।३।१ इत्यण २–तिरो अञ्चतीति तिर्यङ् । "तिरस तिर्रि" ४।३।१५८ इति तिरस् शब्दस्य तिरि आदेश ।

माहाकुला महार्था
मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूता. पवित्रिता दर्शन या पूत पवित्र येषा ते भवन्ति 'मानवतिलका' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थ । पुनरपि कथभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साह, तेज प्रताप कान्तिर्वा, विद्या सहजा आहार्या च बुद्धि', वीर्यं विशिष्ट सामर्थ्य, यशो विशिष्टा ख्याति., वृद्धि कलत्रपौत्रादिसम्पत्ति, विजय परविभवेनात्मनो गुणोत्कर्ष, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्ति, एतै [सनाथा सहिता । तथा 'माहाकुला' महच्च कुल च तत्र भवा. । महार्था' महान्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥ ३६ ॥

अन्वय —दर्शनपूता मानवतिलका भवन्ति । कथभूता मानवतिलका । ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशोवृद्धि विजय विभवस नाथा', पुन माहाकुला, पुनरपि महार्था ॥

निरुक्ति.—ओजश्च तेजश्च विद्या च वीर्यश्च यशश्च वृद्धिश्च विजयश्च विभवश्च इति ओजस्तेजो विद्या वीर्ययशो वृद्धि विजय विभवा तेषां सनाथा इति ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशो वृद्धि विजय विभव

ओजश्च तेजश्च विद्या च वीर्यञ्च यशश्चेति ओजस्तेजो विद्या वीर्यो यशासि । तेषा वृद्धिरिति ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशो [illegible] । सा च विजयश्च विभवश्चेति ओजस्तेजोविद्या- [illegible] । तेश सनाथाः स्वामिनः इति ।

सनाथा । महच्च तत् कुलं महाकुलं तत्र भवा, या महत् कुलं यस्य स महाकुलः तस्य अपत्यानि माहाकुलाः । महान् अर्थो येषां ते महार्थाः, श्रेष्ठा मानवा मानवतिलकाः । दर्शनेन पूता ते दर्शनपूताः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे पवित्र ऐसे प्राणी (मर कर) मनुष्योंमें तिलकके समान श्रेष्ठ (राजा) होते हैं । जोकि ओजस्वी (साहसी) तेजस्वी विद्वान बलवान् यशस्वी (कीर्तिमान्) पुत्र पौत्रवाले विजयी धनवान् तथा उत्तम कुलमें होता है जन्म जिनका और चारों पुरुषार्थोंके साधक ऐसे होते हैं ॥३६॥

तथाऽन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

तथा देवेन्द्र पद को सम्यग्दृष्टि ही पाता है, ऐसा बताते हैं ।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टा प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥

देवदेवीनां सभायाम् । 'चिरं' बहुतरं कालं । 'रमन्ते' क्रीडन्ति । कथम्भूताः ? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं कामरूपित्व-

२-अत्र महाकुलाद्ञ्खञौ ४।१।१४१ इति अञ् स्य । हस्य-श्वादे ७।२।१ इति आदुषाऽकारस्य ऐप् । महाकुला इति पाठे तु एकादशमात्रावत्त्वाच्च छन्दोदोष (गाथा छन्दके प्रथम और द्वितीय पादमें बारह ही मात्रा होती हैं ।) ३ प्रशंसोक्त्या ।।१।३।५१ इति पस·

मित्येतल्लक्षणारने च पुष्टि स्वशरीरावयवानां सर्वदोषचितत्व तैर्वा या पुष्टि परिपूर्णत्व तया तुष्टा सर्वदा प्रमुदिताः। तथा 'प्रकृष्टशोभा जुष्टा' इतरदेवेभ्य. प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविता सेवा जुष्टा सेविता इन्द्राः सन्त इत्यर्थ ॥ ३७ ॥

अन्वय –जिनेन्द्रभक्ता स्वर्गे अमराप्सरसां परिषदि अष्टगुण पुष्टितुष्टा, स तथा प्रकृष्ट शोभाजुष्टा सन्त चिरं रमते। कथभूता जिनेन्द्रभक्ता । दृष्टिविशिष्टा ।

निरुक्ति.–जयन्ति कर्मशत्रून् इति जिना.। जिनेषु इन्द्र जिनेन्द्रा । वा जिनाना इन्द्रा जिनेन्द्रा । जिनेन्द्राणां भक्ता इति जिनेन्द्रभक्ता । अमराश्च अप्सराश्च अमराप्सरस तेषाम् अष्टगुणानां पुष्टि इति अष्टगुणपुष्टि । तया तुष्टा. इति अष्टगुणपुष्टितुष्टा । प्रकृष्टा चासौ शोभा च इति प्रकृष्टशोभा । प्रकृष्टशोभया जुष्टा[1] ते प्रकृष्टशोभाजुष्टा । दृष्ट्या विशिष्टा ते दृष्टिविशिष्टा ।

अर्थ–कर्मरूपी शत्रुको जीतकर जो सम्यक्त्वादि गुणों कर सहित हो सो जिन, तिनमें इन्द्र श्रेष्ठ हो सो जिनेन्द्र तिनकी भक्ति सेवा पूजा करनेवाले स्वर्गमे देवोंकी तथा देवागनाओंकी सभामें आठ गुणों (जो कि अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राकाम्य प्राप्ति ईशित्व वशित्व कामरूपित्व) –की पुष्टि (शरीरका सतत एकसा रहना)से प्रमुदित होते हुवे और प्रकृष्ट है शोभा जिनकी ऐसे होते हुवे बहुत काल तक रमण (आनन्द) करते हैं। कैसे हैं वे जिनेन्द्रभक्त जोकि सम्यग्दर्शनसे सहित हैं।

१–जुष प्रीतिसेवनयो रिति धो क त्व ।

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव आप्नुवन्तीत्याह—
तथा सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती पदको पाता है, ऐसा आचार्य कहते हैं-

नवनिधिसप्तद्वयर
रत्नाधीशा सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितु प्रभवन्ति,
स्पष्टदृश क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वा' त एव 'चक्र' चक्रास्य रत्न 'वर्तयितु' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितु 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति । कथभूता ? सर्वभूमिपतय सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्या पतय चक्रवर्तिन । पुनरपि कथभूता, ? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा'' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वय तेन सङ्ख्यानानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशा स्वामिन । ''क्षत्रमौलिशेखरचरणा' क्षतादोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो मुकुटा तेषु आपाठा शेखरा तानि चरणेषु येषाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय' स्पष्टदृशः सर्वभूमिपतय सन्तः चक्र वर्तयितु प्रभवन्ति । कथभूता ? सर्वभूमिपतय नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा । पुन, सर्वभूमिपतय । पुनरपि क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥

निरुक्ति स्पष्टा दृश' येषां ते स्पष्टदृश, सर्वा चासौ सर्वभूमिः । सर्वभूम्या पतय इति सर्वभूमिपतय. । सप्त इति सप्तद्वयानि । सप्तद्वयानि च यानि रत्नानि इति[illegible] इति यः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे भूषित जीव धर्मचक्रके चलाने-वाले तीर्थंकर होते हैं, कैसे हैं वे वृषचक्रधर? जो कि देवोंके इन्द्र उनसे, मनुष्योंके पति चक्रवर्ति उनसे, तथा भवन व्यंतर ज्योतिष्क देवोंके इन्द्रोंसे पूजे जाते हैं चरण जिनके ऐसे, तथा लोकोंको शरण भूत हैं (भव्यलोकोंको संसारके दुःखोंसे पार कराने वाले हैं)॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह-
तथा पूर्ण सम्यक्त्व होनेपर ही निर्वाणपद प्राप्त होता है ऐसा बताते हैं—

शिव मजर मरुज मक्षय-
मव्याबाध विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या-
विभव विमल भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०॥

'दर्शनशरणा' दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते 'शिवं' मोक्षं भजन्त्यनुभवन्ति। कथम् 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। 'अरुजम्' [illegible] निद्यते रुक् रुजा व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यते क्षयो ज्ञानचतुष्टयक्षयो यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशङ्कं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं गतः प्राप्तः सुख[illegible] विभूतिर्यत्र। 'विमलं' विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म यत्र।

अन्वय दर्शनशरणा शिव भजन्ति। कथंभूत शिव ? अजर अरुजम् अक्षयम् अव्याबाध विशोकभयशङ्कम्। काष्ठागत-सुखविद्याविभवम् पुन विमलम्॥

निरुक्ति –दर्शन शरण येषां ते दर्शनशरणा । नास्ति जरा यस्मिन् स अजर तम्। नास्ति रुजा यस्मिन् स अरुज तम्। नास्ति क्षय यस्मिन् स. अक्षय तम्। नास्ति व्याबाधा यस्मिन् स अव्याबाध तम्। शोकश्च भयश्च शङ्का च इति शोकभयशङ्का, विगता शोकभयशङ्का यस्माद् यस्मिन् वा स विशोकभयशङ्क तम्। सुख च विद्या च सुखविद्ये। सुखविद्ययो विभव इति सुखविद्या विभव । काष्ठागत सुखविद्याविभव यस्मिन् स, काष्ठागतसुख विद्याविभव, तम्। विगत मल यस्मिन् वा यस्मात् स विमल ।

अर्थ–सम्यग्दर्शनका शरण जिन्होंने लिया है ऐसे सम्यक्ती जीव मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। कैसा है वह मोक्ष ? जिसमें बुढापा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं है, जिसमें शोक, भय शका नहीं है, सीमाके अतमें पहुच गया है सुख और ज्ञानका ऐश्वर्य जिसमें, और जिसमें किसी प्रकारका भी मल (दोष) नहीं है ४०॥

यस्मात् प्रत्येक श्लोकै सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्त तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ सग्रहवृत्तेनोपसहृत्य प्रतिपादयन्नाह-

सम्यग्दर्शनका फल इन चारों परमस्थानकी प्राप्ति है, ऐसा बताते हुवे इस सम्यग्दर्शनाधिकारको पूर्ण करते हैं।

१-शुच शोके घो घञ-'न्यङ्क्वादीनाम्' ७।३।५३ अनेन

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्र मवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्यः॥४१

'शिव' मोक्षम् 'उपैति' प्राप्नोति । कोऽसौ ? 'भव्य' सम्यग्दृष्टि । कथम्भूत ? 'जिनभक्ति' जिने भक्तिर्यस्य । किं कृत्वा ? लब्ध्वा । कि ? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानम्' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्र सघा-तस्तत्र तस्य वा महिमान विभूतिमाहात्म्यम् । कथभूतम् ? 'अमेय मानम्' अमेयम् अपर्यन्त मानमस्यामेयमान (पूजामान) वा यस्य । तथा 'राजेन्द्रचक्र लब्ध्वा' राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषा चक्र चक्र रत्न । किं विशिष्ट ? अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्' अव यां निजनिज-पृथिव्याम् इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषा शिरोभिरर्चनीयम् । तथा धर्मेन्द्रचक्र लब्ध्वा धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातार प्रणेतारो वा तीर्थकरदेवास्तेषा चक्र सघातो धर्मिणां वा तीर्थकृता सूचक चक्र धर्मचक्र । कथभूतम् ? 'अधरीकृतसर्वलोक' अधरीकृत भृत्यता नीत सर्वलोकस्त्रिभुवन येन । एतत्सर्व लब्ध्वा पश्चाच्छिव चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितो
पासकाध्ययनटीकायां प्रथम परिच्छेद ॥ १ ॥



अन्वय - जिनभक्तिभव्य शिवम् उपैति। किं कृत्वा, अमेयमानम् देवेन्द्रचक्रमहिमान लब्ध्वा। पुनः किं कृत्वा, अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् राजेन्द्रचक्र लब्ध्वा। पुन किं कृत्वा, अधरीकृतसर्वलोकम् धर्मेन्द्रचक्र लब्ध्वा।

निरुक्ति —जिने भक्तिः यस्य स जिनभक्ति। भवितु योग्य स भव्य। देवेन्द्राणा चक्रम् देवेन्द्रचक्र, देवेन्द्रचक्रस्य महिमा इति देवेन्द्रचक्रमहिमा, तम्। नास्ति मेय मानम् यस्य स, तम्। राजेन्द्राणां चक्र राजेन्द्रचक्रम्। अवनीनाम् इन्द्रा ते अवनीन्द्रा। अवनीन्द्राणां शिरांसि इति अवनीन्द्रशिरांसि। अवनीन्द्रशिरोभिः अर्चनीय इति अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयः तम्। धर्मेन्द्रस्य चक्र धर्मेन्द्रचक्र तम्। अनधर अधरः क्रियतेऽनेनेति अधरीकृत। अधरीकृतः सर्वो लोक येन सः अधरीकृतसर्वलोक, तम्॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानकी जो भव्यजीव भक्ति करता है वह मोक्षको पहुच जाता है। क्या करिके? अमर्यादित देवोंके इन्द्रोंकी विभूतिको भोग करके। और किस विधिसे मोक्षको प्राप्त करता है विद्याधर भूमिगोचरी और म्लेच्छ खडोंके सब भूपतियोंके मस्तक नम्रीभूत हो रहे हैं चरणोंमें जिसके, ऐसे चक्रवर्ती पदवीको भोगकर। और क्या करके मोक्षको प्राप्त करता है? नम्रीभूत कर दिये हैं समस्त लोक जिसने ऐसे तीर्थंकर पदको प्राप्त करके।



इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा विरचाया ...

...

ज्ञानाधिकारो द्वितीयः ।

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह—

सम्यग्ज्ञानका लक्षण कहते हैं ।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

'वेद' वेत्ति । 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' 'भावश्रुतरूपं' । के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःसंशयं यथा भवति तथा । 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलवस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद, तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथा नित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वाज्ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वस्तुस्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषणचतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य सम्भवति तद्दर्शयति—याथातथ्यं यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतम् । तद्रूपत्वेन ज्ञानस्य

१—सम्यग्ज्ञानस्य चत्वारो भेदाः । प्रथमानुयोग १ करणानुयोग २ चरणानुयोग ३ द्रव्यानुयोगश्च ४ तान् क्रमेण दर्शयन्ति सूत्रामिन । अत्र शास्त्रे ज्ञानस्य पञ्च भेदाः स्वीकृता न तु- ।

जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूप-प्रकाशनसमर्थसम्भवात्। तदुक्तम्—(आप्तमीमांसायां)

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति

अतस्तदेव च सर्वत्रैनाभिप्रेतम्। तस्यैव मुद्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसम्भवात् ॥ १ ॥

अन्वय —तत् आगमिन ज्ञान आहुः, कि तत् यद् अन्यूनम् अनतिरिक्त विपरीतात् विना, नि सदेह च याथातथ्य वेद ॥

निरुक्ति —आगमा विद्यन्ते येषु ते आगमिन । नास्ति न्यून यस्मिन् तत् अन्यूनम्। न अतिरिक्त यस्मिन् तत् अनतिरिक्तम्। तथा अनतिक्रम्य वर्तते इति यथा तथम्। यथातथम् इत्यस्य भाव. इति याथातथ्यम्। निर्गतः सदेहो यस्मात् तत् नि सदेहम् ॥

१–ब्रूञ् धो "ब्रुव आहश्च ३।४।८४ अनेन आहादेश। पञ्चेष्वेव उसादेश । आहु ब्रुवन्ति कथयन्तीत्यर्थ । २–वेद इति विद्ज्ञाने धो लटि रूपम्। 'विदो लटो वा" ३।४।८३ इति णल् ऐनि जानातीत्यर्थ ३–आगम शुद्धज्ञानमस्ति येषा ते तथा "मत्वर्थात् खी' ५।२।६६ इति इन्। गणधरा इत्यर्थ । तथा "अतोऽनेकाच" ५।२।११५ इति च इन्। आगमिन आगमोपज्ञातार शास्तार इति यावत्। ४–नो न न्यूनः अल्पास स अन्यून। "नञ्" २।२।६ इति स । "नञोऽन्" ६।३।७३ इति नस्य अकारादेश । ५–न अतिरिक्त अधिक इति अनतिरिक्त । अचि ७।३।१४२ इति अनादेश अतिव्याप्तिरहित.।

अर्थ–उस जाननेको सर्वज्ञ और गणधर देव ज्ञान कहते हैं। कौनसा वह ज्ञान है जो न न्यून हो, न अधिक हो, न विपरीत हो, सदहसे रहित हो, और यथार्थ स्वरूप हो ॥४२॥

तस्य विषयभेदाद् भेद प्ररूपयन्नाह—

प्रथमानुयोगका लक्षण कहते हैं।

प्रथानुयोगमर्था ख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधान,बोधति बोधः समीचीनः॥

'बोधः समीचीन' सत्य श्रुतज्ञान। 'बोधति' जानाति। क? प्रथमानुयोग। किं पुन प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह- 'चरित पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरित त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराण तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयम्। तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषण, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यान प्रतिपादन यत्र येन वा त। तथा पुण्य प्रथमानुयोग हि श्रृण्वता पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्य तदनुयोग। तथा 'बोधिसमाधिनिधान' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधि प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापण समाधि ध्यान वा धर्म्यशुक्ल च समाधि, तयोर्निधान तदनुयोग हि श्रृण्वतां सद्दर्शनादे प्राप्त्यादिक धर्म्यध्यानादिक च भवति। तथा–

अह उड्ढ तिरिय लोए दिसि विदिस जं पमाणियं भणियं।
करणाणिओय सिद्धं, दीवसमुद्दा जिणे गेहा॥ १॥

अन्वय:—समीचीन: बोध: चरितम् अपि पुराणं प्रथमानुयोगं बोधति। कथंभूतं चरितं[1] कथंभूतं पुराणम्[2] अर्थाख्यानम्। पुन: पुण्यम्। पुनरपि, बोधिसमाधिनिधानम्, अथवा, य: समीचीन: बोध: चरितं[3] अपि पुराणं[4] बोधति तं प्रथमानुयोगं कथयन्ति। शेषं पूर्ववत् ॥

निरुक्ति:—प्रथमो मुख्यश्चासौ अनुयोग इति प्रथमानुयोग, तम्। अर्थानाम् आख्यानं यत्र तत् अर्थाख्यानम्। बोधिश्च समाधिश्च इति बोधिसमाधी। तयो: निधानम् इति बोधिसमाधिनिधानम्।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, चरित्रोंको और पुराणोंको प्रथमानुयोग जाने है। कैसे हैं चरित्र और पुराण? चारों पुरुषार्थोंका है आख्यान जिनमें। और कैसे हैं ये दोनों? पुण्य रूप हैं तथा पुण्यका कारण हैं बोधि और समाधिकी खानि हैं। अथवा जो उत्तम ज्ञान चरित्रोंको पुराणशास्त्रोंको जानता है उस ज्ञानको आचार्य प्रथमानुयोग कहते हैं।

१-सम् पूर्वक अञ्च धातोः क्विप् "समस्समि" ६।३।९३ सूत्रेण सम: "समि" आदेश: सम्यक् प्रकारेण इति समीचीन:। "चाऽऽदिक् स्त्रियाम्" ५।४।१६ इति स्वार्थे। तस्य ख इन आदेश:। २-धर्म पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ, काम पुरुषार्थ और मोक्ष पुरुषार्थ इनका और इनके करनेवाले पुरुषोंका कथा-इतिहासका वर्णन। ३-सीताचरित्र, हनुमच्चरित्र, भविष्यचरित्र आदिक चरित्र हैं ४-महापुराण आदिपुराण उत्तरपुराण हैं।

अब करणानुयोगका लक्षण बताते हैं।

लोकालोकविभक्ते र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च
आदर्शमिव तथामति रवैति करणानुयोग च ४४

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकारेण। 'मतिर्मनन श्रुतज्ञान'। अवैति जानाति। क ? 'करणानुयोग' लोकालोकविभाग पचसग्रहादिलक्षण। कथभूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्याय प्रकाशकः। 'लोकालोकविभक्ते' लोक्यन्ते जीवादय पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाण —तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूप। तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्या आदर्शमिव, तथा 'युगपरिवृत्ते' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादे परिवृत्ति परावर्तन तस्या आदर्शमिव, तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव॥ ४४॥

अन्वय —तथामति करणानुयोग लोकालोकविभक्ते च युगपरिवृत्ते च चतुर्गतीनाम् आदर्श इव अवैति। अथवा। तथामति, लोकालोकविभक्ते च युगपरिवृत्ते च चतुर्गतीनाम् आदर्शम् इव अवैति तत् करणानुयोग कथयन्ति॥

निरुक्ति —लोकश्च अलोकश्च लोकालोकौ। लोकालोकयो विभक्ति इति लोकालोकविभक्ति तस्या। युगस्य परिवृत्ति तस्या युगपरिवृत्तेः। चतस्रश्च गतय इति चतुर्गतय तासाम्।

१-यथा वस्तुन स्वरूपो भवति तथैव मनन मतिर्बोधन-तथामति सम्यग्ज्ञानमित्यर्थ।

अर्थ—श्रुतज्ञान, करणानुयोगको लोकअलोकके विभागको तथा युगके परिवर्तनको और चतुर्गतियोंके जानने को दर्पणके समान है ऐसा जानता है। (तथा) जो उत्तम ज्ञान लोकविभागको अलोकविभागको कल्पकालों के परिवर्तनको तथा चारों गतियोंके जाननेको दर्पणके समान है उसको करणानुयोग कहते हैं ॥ ४४ ॥

तथा—नरचारित्त मुणीण किरियाण रिद्धि गेहसहियाणं।

उवसग्ग सण्णास चरणा णियय पसंसति ॥

चरणानुयोगका लक्षण कहते हैं।

गृहमेध्यनगाराणां,चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्। चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। विशेषेण जानाति। कं? चरणानुयोगसमयं चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचारादि। कथंभूतं? चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्गं कारणम् अङ्गानि कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र। केषां तदङ्गम्? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावका अनगारा मुनयस्तेषाम् ॥

अन्वय—सम्यग्ज्ञानं चरणानुयोगसमयं गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं विजानाति। अथवा यत् सम्यग्ज्ञानं गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं विजानाति तम् चरणानुयोगसमयम् आचार्याः कथयन्ति ॥

---

*इसकी संस्कृत टीकामें कुछ पाठ छूट गया है अनेक प्रतियोंमें देखनेपर भी नहीं मिला।

निरुक्ति॰—समीचीनं च यत् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्, गृहमेधिनश्च अनगाराश्च इति गृहमेध्यनगाराः, तेषां गृहमेध्यनगाराणाम्। उत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च उत्पत्तिवृद्धिरक्षाः। चारित्रस्य उत्पत्तिवृद्धिरक्षाणाम् अङ्गानि यस्मिन् तत् चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, भावश्रुत चरणानुयोगशास्त्रको गृहस्थके, मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि रक्षाका अंग (कारण) जानता है। अथवा जो भावश्रुत गृहस्थ तथा मुनिराजोंके चारित्रोंकी उत्पत्ति वृद्धि तथा रक्षाके अंगोंको (साधनोंको) जानता है (कहता है) उसको चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं ॥ ४५ ॥

द्रव्यानुयोगका लक्षण कहते हैं।

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स आतनुते' विस्तारयति अशेषान् शेषतः प्ररूपयति। के? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः। तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्यं। ततोऽन्यत्कर्माऽपुण्यमुच्यते। ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः [illegible] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशे-

यत द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । कथ ? "श्रुतविद्यालोक" श्रुतविद्या भावश्रुत सैवालोकः प्रकाशो यत्र कर्मणि तद्यथा भवत्येव जीवादीनि प्रकाशयतीति ॥ ४६ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितो-पासकाध्ययनटीकायां द्वितीय परिच्छेदः ॥२॥

अन्वय-द्रव्यानुयोगदीप जीवाजीवसुतत्वे च पुण्यपुण्ये च बन्धमोक्षौ श्रुतविद्यालोक यथा स्यात् तथा आतनुते ॥ अथवा य बोध जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च श्रुतविद्यालोक यथास्यात्तथा आतनुते, स द्रव्यानुयोगदीप कथ्यते ।

निरुक्ति -द्रव्यानुयोग. एव दीप इति द्रव्यानुयोगदीपः। जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ । जीवाजीवौ च सुतत्त्वे इति जीवाजीवसुतत्त्वे । पुण्य च अपुण्य च पुण्यापुण्ये । बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ । श्रुतविद्या एव आलोक यत्र इति श्रुतविद्यालोक तम् ॥

अर्थ द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीवतत्त्वको वा अजीवतत्त्वको, तथा पुण्य पापको और बन्ध मोक्ष तत्त्वको जिस तरहस भावश्रुतका विस्तार हो तिस प्रकार जाने है प्रकट करे है विस्तार है। दूसरा अर्थ-जो ज्ञान जीव अजीव इन उत्तम तत्त्वोंको बन्धमोक्षको और पुण्य पापतत्त्वोंको प्रकाशित करते हैं जाने है वह द्रव्यानुयोग भावश्रुत ज्ञान है।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डश्रावकाचारे उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धान्तशास्त्रिणा निरुक्ताया पञ्जिकाया हिन्दीभा[illegible]

सद्वृत्ते गुणाव्रताधिकार तृतीयः

धर्म का तीसरा अवयव जो सद्वृत्त उसका वर्णन करते हैं—

अथ चरित्ररूपं धर्मं व्याचिख्यासुराह—

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरण प्रतिपद्यते साधु ॥४७॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चरित्रं 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति । कोऽसौ ? 'साधुर्भव्यः' । कथंभूतः ? 'अवाप्तसंज्ञानः' । कस्मात् ? 'दर्शनलाभात्' । तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः ? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानो भव्यः स्यात् । ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वय —साधुः चरणं प्रतिपद्यते । कस्यै सिद्ध्यै ? रागद्वेषनिवृत्त्यै । कथंभूतः साधुः, मोहतिमिरापहरणे सति दर्शनलाभात् अवाप्तसंज्ञानः ।

---

(१) प्रति पूर्वक पदोट् गतौ धातु कर्तरि लट् "दिवादिभ्यः श्यन्" ३।१।८३ इति श्यः । प्रतिपद्यते, स्वीकरोति ।

निरुक्ति —रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, रागद्वेषयो निवृत्ति इति रागद्वेषनिवृत्ति, तस्यै। मोह एव तिमिर मोहतिमिरम् मोहतिमिरस्य अपहरणे मोहतिमिरापहरणं तस्मिन्। दर्शनस्य लाभः दर्शनलाभ तस्मात्। अवाप्त सज्ञान यस्य स अवाप्तसज्ञान ॥

अर्थ—भव्य-सत्पुरुष, चारित्रको अंगीकार करते हैं (प्राप्त होते हैं) किसलिये? राग द्वेषको दूर करनेके लिये। कैसे हैं वे साधु? जिनका मिथ्यात्वरूप अंधकारके दूर होने पर अथवा दर्शनमोहनीय अनन्तानुबंधी स्वरूप चारित्रमोहनीय तथा ज्ञानावरणरूपी तिमिरके क्षयोपशम तथा उपशम और क्षयके होने पर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे प्राप्त हो गया है सम्यग्ज्ञान जिनको ऐसे हैं।

तस्मिन्निवृत्तेनैव हिंसादिनिवृत्ते समर्थनादित्याह—

उन राग द्वेषोंके क्षयोपशमादि होने पर हिंसादि पापोंका परित्याग होता है ऐसा बताते हैं।

रागद्वेषनिवृत्ते र्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्ति, क पुरुष सेवते नृपतीन् ॥

२–रञ्जनं राग। रञ्ज रागे धो घञ तत 'घञि भावकरणे' ६।४।२८ इति नकारस्य लोप। ३–मोहः–दर्शनमोहनीय अनन्तानुबन्धीकषायवेदनीयश्च। तिमिरमिव तिमिरम् ज्ञानावरण दर्शनावरण च तयोरपहरण क्षयोपशम यथायोग्य क्षय उपशमश्च।

हिंसादेः निवर्तना व्यावृत्तिः कृता भवति । कुत इत्याह वृत्तेः । अयमत्र तात्पर्यार्थः - प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं भवति ततो भाविरागादिनिवृत्तेरेव प्रकृष्टप्रकृष्टतमादि निवर्तने देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तेराधिक्यात् तस्मात्ततो गमनि शेषरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादिनिवृत्तिलक्षणा परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति । अस्यैव समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह—अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् अनपेक्षिता अनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविध पुरुषः को न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अन्वय —रागद्वेषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः नृपतीन् सेवते ? अपि तु न ।

निरुक्तिः—रागद्वेषयोः निवृत्तिः इति रागद्वेषनिवृत्तिः तस्याः रागद्वेषनिवृत्तेः । हिंसा आदौ येषां तानि हिंसादीनि, हिंसादीनाम् निवर्तना इति हिंसादिनिवर्तना । न अपेक्षिता अर्थस्य वृत्तिः यस्य स अनपेक्षितार्थवृत्तिः । नृणाम् पतयः नृपतयः तान् नृपतीन् ॥४८॥

अर्थ—राग द्वेष दूर हो जानेसे हिंसादिक पाप दूर हो जाते हैं । जिसको धन प्राप्तिकी चाह नहीं है ऐसा कौन

१-नि पूर्वक वृतु धातुसे णिच् "हेतुमति" ३।१।२६ इति णिच् । तदन्ताद् धातोः ३।१।४ इति 'युः' संज्ञा । "ण्यासश्रन्थो युच्" इति युच् ३।३।१०७ इति अन त्व । स्त्रीत्वात् 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ इति टाप् निवर्तना व्यावृत्तिः त्याग इत्यर्थः ।

तेभ्य हिंसानृतचौर्येभ्य । मैथुनसेवा च परिग्रहश्च इति सेवापरिग्रहौ ताभ्या मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याम्, पापस्य इति पापप्रणालिका ताभ्य इति पापप्रणालिकाभ्य । सम्यक् रेण जानाति इति सन' तस्य सज्ञस्य सम्यग्ज्ञानिन ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानियोंका जो हिंसा झूठ चोरी मैं और परिग्रहसे विराम होना (छूटना) सो चारित्र है । हैं वे हिंसादिक ? पापास्रव हैं, पापकर्मका बध होने लिये प्रणाली हैं—आस्रव हैं ॥ ४९ ॥

तदेवभूत चारित्र द्विधा भिद्यन इत्याह—

उस चारित्रके भेद कहते हैं—

सकल विकल चरण, तत्सकल सर्वसगविरतानाम्,
अनगाराणा विकल, सागाराणा ससगानाम् ।५०

हिंसादिविरतिलक्षण यच्चरण प्राक् प्ररूपित तत् सकल विकल च भवति । तत्र सकल परिपूर्ण महाव्रतरूप । केषा तद्भवति अनगाराणा मुनीनाम् । किंविशिष्टाना सर्वसगविरताना ? भ्यन्तरपरिग्रहरहितानाम् । विकलमपरिपूर्णम् अणुव्रतरूपम् । केषा तद्भवति ? सागाराणा गृहस्थानाम् । कथभूताना ? ससगान सग्रन्थानाम् ॥ ५० ॥

अन्वय —तत् चरण द्विविध भवति । किं तद् द्विविधम् ? सकल विकल । तत्र सकल चरणम् अनगाराणा भवति । कथ भूतानाम् अनगाराणा ? सर्वसगविरतानाम् । तत्र च विकल चरण सागाराणा भवति । कथ भूताना सागाराणा ? ससगानाम् ॥

निवृत्ति —भ्यो च सर्व संसग । सर्वसंगेभ्य. विरताः अनगाराणं देशं । न विद्यते अगारो येषां ते अनगारा तेषाम् ।

अर्थ—यह चारित्र दो प्रकारका होता है एक सकल तथा विकल । जिसमें पहिला सकल चारित्र मुनियोंके होता है । कैसे हैं मुनि ? जो सर्व प्रकार परिग्रहसे रहित हैं । तथा विकल चारित्र गृहस्थोंके होता है, कैसे हैं गृहस्थ परिग्रहोंसे युक्त हैं ॥ ५० ॥

अथ विकलमेव तावच्चरणं व्याचष्टे—

गृहस्थोंके विकलचरणको कहते हैं—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्
पञ्चत्रिचतुर्भेदं, त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥५१॥

गृहिणां सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत् त्रेधा तिष्ठति भवति । किं विशिष्टं सत् ? "अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं सत्" अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत् । त्रयमेव एतद्भेदेन प्रत्येकं पञ्चत्रिचतुर्भेदमाख्यातं प्रतिपादितं । तथा हि । अणुव्रतं पञ्चभेदं, गुणव्रतं त्रिभेदं, शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ॥ ५१ ॥

अन्वय —गृहिणां चरणं त्रेधा तिष्ठति, किं तत् ? अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम् । तत्र अणुव्रत पञ्च त्रि चतु भेदम्

स हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात् । तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचनान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा परपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो ना यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः । तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः । तेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः पापेभ्यः पापास्रवणद्वारेभ्यः ॥ ५२ ॥

अन्वय — स्थूलेभ्यः प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणम् अणुव्रतं भवति ॥

निरुक्ति — प्राणानाम् अतिपातः प्राणातिपातः । वितथश्चासौ व्याहारः वितथव्याहारः । प्राणातिपातश्च वितथव्याहारश्च स्तेयं च कामश्च मूर्च्छा च इति प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाः ताभ्यः तथा । अणु च यत् व्रतम् अणुव्रतम् ॥ ५२ ॥

अर्थ — स्थूल स्वरूप हिंसा असत्य चोरी मैथुनसेवन और परिग्रह (तृष्णा) इन पापोंसे दूर होना त्याग करना सो अणुव्रत है।

१—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् "स्तेनाद्यन्नलोपश्च" ३।४।१४३। इति यप्रत्ययो नकारलोपश्च । २—मूर्च्छनं मूर्च्छा — मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोरिति धोः "गुरोश्च हलः" ३।३।१०३ इति स्त्रियाम् अप्रत्ययः ततः टाप् ।

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह—

अहिंसाणुव्रतका लक्षण बताते हैं—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्त्वान्
न हिनस्ति यत्तदाहु ,स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ।

'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान् 'यत्र हिनस्ति' तदाहु स्थूलवधाद्विरमणम् । के ते ? निपुणाः हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः । कस्मान्न हिनस्ति ? सङ्कल्पात् सङ्कल्प्य हिंसामिमध्यमाश्रित्य । कथम्भूतात् सङ्कल्पात् ? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य सम्बन्धिनः ? योगत्रयस्य मनोवाक्कायत्रयस्य । अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारितानुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनम् । (अनु) मननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थम् । तथा हि मनसा चरसत्त्वहिंसा स्वयं न करोमि चरसत्त्वं हिनस्मीति मनःसङ्कल्पं न करोमीत्यर्थः । मनसा चरसत्त्वहिंसामन्यं न कारयामि । चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः २ तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये सुष्ठु कृतमिति मनःसङ्कल्पं न करोमीत्यर्थः ३ एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । ४ वचसा चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः ५ तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं नानुमन्ये साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । ६ तथा कायेन चर- ... न करोमि चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्-

व्यापार न करोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वहिंसने भ्रादसङ्ज्ञया परं न प्रेरयामीत्यर्थः ८ तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्य नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये इत्यु क्रमहिंसाणुव्रतम् ॥ ९ ॥ ५३ ॥

अन्वय -तत् निपुणाः स्थूलवधात् विरमणम् आहुः । किं तत् यत् योगत्रयस्य सङ्कल्पात् चरसत्त्वान्, न हिनस्ति कथभूतात् सङ्कल्पात् ² कृतकारितमननात् ॥

निरुक्ति -कृत च कारित च मनन च एषां समाहारः कृतकारितमननं, तस्मात् कृतकारितमननात् । योगानां त्रयं योगत्रयं, तस्य । चराश्च ते सत्त्वाः चरसत्त्वाः तान् । स्थूलश्चासौ वधः स्थूलवधः, तस्मात् ॥

१-हिंसि हिंसने धो सतिकाले लट् तिप तस 'रुधां श्नम्' २।१।१२ इति श्नम्, हिनस्ति हन्ति मारयति वियोजयति ।

२-हनन वधः-हन् हिंसागत्योरिति धो 'हनश्च वधः' २।३।६३ अनेन अच् स्य । हनश्च वधादेशः हिंसेत्यर्थः ।

विशेष-हिंसा चार प्रकारसे होती है १ सङ्कल्पसे, २ उद्यमसे ३ विरोधसे, ४ आरम्भसे। जीव दो प्रकारके हैं-त्रस १ स्थावर २ इनमेंसे गृहस्थ सङ्कल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है। स्थावर जीवोंकी हिंसाका अभी त्यागी नहीं है तथा उसके शेष तीनों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग नहीं है। सङ्कल्पी हिंसा उसको कहते हैं जो देवी देवताओंके लिये मन्त्रसिद्धिके लिये, औषधिके लिये खानेके लिये तन्त्र सिद्धिके लिए हीन्द्रिय आदि त्रसजीवोंको मारता है मरवाता है [illegible] है। मनसे वचनसे तथा शरीरसे वह अणुव्रती [illegible] सकता [illegible] यह अणुव्रती पापों और

अर्थ—उस हेतुको बुद्धिमान् लोग अहिंसाणुव्रत कहते हैं (वह कौनसा हेतु ?) जोकि संकल्पसे त्रसप्राणियोंको नहिं मारना है। कैसा है संकल्प? कृत कारित और अनुमोदना रूप है ॥ ५३ ॥

तस्येदानीमतीचारानाह—

अहिंसाणुव्रतके अतीचार बताते हैं।

छेदनबन्धनपीडन मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरते पञ्च ॥५४॥

व्यतीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः । पञ्च । कस्य? स्थूलवधाद्व्युपरते । कथमित्याह "छेदनेत्यादि" कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं । अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं । पीडनं पीडा दण्डकशाद्यभिघातः । अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं । न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किं तु आहारवारणापि च आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो (धारणा) वा निरोधः ।

अन्वय—स्थूलवधाद् व्युपरते पञ्च व्यतीचाराः भवन्ति, के ते? छेदनबन्धनपीडनम् अतिभारारोपणम्, अपि च आहारवारणा।

निरुक्ति—छेदनं च बन्धनं च पीडनं च एषां समाहारः छेदनबन्धनपीडनम् । अतिभारस्य आरोपणम् इति अतिभारारोपणम् । आहारस्य वारणा इति आहारवारणा ॥ ५[illegible] ॥

अर्थ—स्थूलत्रसत्याग अणुव्रतके ५ पांच अतीचार होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके शरीरको छेदना, बांधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना (अधिक काम कराना अधिक कर वसूल करना तथा अ~

व्यापारं न करोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वहिंसने धात्संज्ञया परं न प्रेरयामीत्यर्थः ८ तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥ ९ ॥ ५३ ॥

अन्वय –तत् निपुणाः स्थूलवधात् विरमणम् आहुः । किं तत् यत् योगत्रयस्य संकल्पात् चरसत्त्वान् न हिनस्ति वधभूतात् संकल्पात्[२] कृतकारितमननात् ॥

निरुक्ति –कृतं च कारितं च मननं च एषां समाहारः कृतकारितमननं, तस्मात् कृतकारितमननात् । योगानां त्रयं योगत्रयं, तस्य । चराश्च ते सत्त्वाः चरसत्त्वाः तान् । स्थूलश्चासौ वधः स्थूलवधः तस्मात् ॥

१-हिंसि हिंसने धो वर्तमाने लट् तिप् सत "रुधा श्नम्" ३।१।७८ इति श्नम्, हिनस्ति हन्ति मारयति वियोजयति ।

२-हन वध –हनो हिंसागत्योरिति धो "हनश्च वधः" ३।३।७६ अनेन अप् स्य । हनस्य वधादेशः हिंसेत्यर्थः ।

विशेष–हिंसा चार प्रकारसे होती है १ संकल्पसे, २ उद्यमसे ३ विरोधसे ४ आरम्भसे। जीव दो प्रकारके हैं–त्रस १ स्थावर २ इनमेंसे गृहस्थ संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है। स्थावर जीवोंकी हिंसाका अभी त्यागी नहीं है तथा उसके शेष तीनों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग नहीं है। संकल्पी हिंसा उसको कहते हैं जो देवी देवताओंके लिये मन्त्रसिद्धिके लिये, औषधिके लिये खानेके लिये तन्त्र सिद्धिके लिये द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवोंको मारता है मरवाता है अनुमे [illegible] है। मनसे वचनसे तथा शरीरसे वह अणुव्रती [illegible] सकता किंतु वह अव्रती पापी और दुराचारी [illegible]

अर्थ—उस हेतुको बुद्धिमान् लोग स्थूलवध त्याग कहते हैं (वह कौनसा हेतु?) जोकि मनवचनकायके संकल्पसे त्रसप्राणियोंका नहिं मारना है। कैसा है वह संकल्प? कृत कारित और अनुमोदना रूप है ॥ ५३ ॥

तस्येदानीमतीचारानाह —

अहिंसाअणुव्रतके अतीचार बताते हैं।

छेदनबन्धनपीडन मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ५४

व्यतीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। यति? पञ्च। कस्य? स्थूलवधाद्व्युपरतेः। कथमित्याह "छेदनेत्यादि" कर्ण नासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं। अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं। पीडनं पीडा दण्डकशाद्यभिघातः। अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किं तु आहारवारणापि च आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो (धारणा) वा निरोधः।

अन्वय—स्थूलवधव्युपरतेः पंच व्यतीचाराः भवन्ति, के ते पंच? छेदनबन्धनपीडनम् अतिभारारोपणम् अपि च आहारवारणा।

निरुक्ति छेदनं च बन्धनं च पीडनं च एषां समाहारः छेदनबन्धनपीडनम्। अतिभारस्य आरोपणम् इति अतिभारारोपणम्। आहारस्य वारणा इति आहारवारणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्थूलवध त्याग अणुव्रतके ५ पांच अतीचार होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके शरीरको छेदना, बांधना, [पी]ड़ना, अधिक भार लादना (अधिक काम कराना कर बधुत करना तथा अधिक सता देना) ॥५४॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

सत्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं

स्थूलमलीकं न वदति,
न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ॥
यत्तद्वदन्ति सन्त,
स्थूलमृषावादवैरमणम् ।५५।

'स्थूलमृषावादवैरमणम्' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं तद्वदन्ति । के ते ? सन्तः सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः । तत्किं ? स तो यन्न वदति, अलीकमसत्यम् । कथं भूतं ? "स्थूलम्," यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति । तथा परान् यान् तथाविधमलीकं न वादयति । न केवलमलीकं किन्तु सत्यमपि चौरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति । किं विशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य विपदेऽपकाराय भवति।

अन्वय —तत् सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणं वदन्ति । तत् किं ? यत् स्थूलम् अलीकं न वदति, न परान् अपि वादयति विपदे सत्यम् अपि न वदति ॥

१–विरमणमेव वैरमणम् स्वार्थेऽण् । २–वद व्यक्तायां वाचि धोः स्वार्थे लट् वदति वक्ति । ३–तस्मादेव हेतुमति ३।१।२६ इति णिच् लट् च । "शब्दे" १।२। ४८ अनेन अण्यन्त कर्तरि परे पदे कर्मसंज्ञा तत कर्माणोए" १।४।? अनेन द्वि विभक्ती । अपान् [illegible] न जल्पयति इत्यर्थः ।

निरुक्ति० स्थूलश्चासौ मृषावादश्च इति स्थूलमृषावादः स्थूलमृषावादाद् वैरमणं मिति स्थूलमृषावादवैरमणम् विपदे विपरयर्थम् ॥

अर्थ —उस हेतुको साधु लोग स्थूल मृषावाद त्याग कहते हैं (कौनसा वह हेतु) जो कि न स्वय स्थूल-झूठ बोले हैं और न दूसरोंको बुलवाते हैं तथा जिस वचनसे आपत्ति हो जावे ऐसे सत्य वचनको भी नहीं बोले हैं ५५

साम्प्रत सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह

सत्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं—

परिवादरहोभ्याख्या, पैशून्य कूटलेखकरण च ।
न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ।

"परिवादो" मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनि.श्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु न य स्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थ । "रहोऽभ्याख्या" रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्या मनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशन । "पैशून्यम्" अङ्गविकार भ्रूविक्षेपादिभि पराभिप्राय ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटन साकारमन्त्रभेद इत्यर्थ । कूटलेखकरण च अन्येनानुक्तमननुष्ठित यत्किञ्चिदेव तेनोक्तमनुष्ठित चेति वञ्चनानिमित्त कूटलेखकरण कूटलेखक्रियेत्यर्थ । "न्यासापहारिता" द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसख्य द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनम । एव परिवादादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पञ्चमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पञ्च व्यतिक्रमा अतीचारा भवन्ति ।५६।

४-विपूर्वात् पद धोः 'सम्पदादिभ्य क्विप् क्ति ।' २।३।६१ सूत्रेण क्विप् । "तादर्थ्ये" १।४।२५ इति चतुर्थी विभक्ती । विपदे १५ दु खाय इति यावत् ।

अन्वय —सत्यस्य पञ्च व्यतिक्रमा भवन्ति। के ते पञ्च? परिवादरहोभ्याख्यापैशून्यं च कूटलेखकरणम्, अपि च न्यासापहारिता ॥ ५६ ॥

निरुक्ति —परिवादश्च रहोभ्याख्या च पैशून्यं च एषां समाहारः परिवादरहोभ्याख्यापैशून्यम्। कूटश्चासौ लेखः कूटलेखः। कूटलेखस्य करणम् कूटलेखकरणम्। न्यासस्य अपहारिता इति न्यासापहारिता।

अर्थ —सत्य अणुव्रतके पाच अतीचार होते हैं, जोकि परिवाद दूसरोंकी बुराई करना। रहोभ्याख्या दूसरोंकी गुप्त बातोंको प्रगट करना। पैशून्य-चुगली करना। कूट लेख करण झूठे लेख बनाना। न्यासापहारिता—दूसरोंकी धरोहरको हड़प लेना अर्थात् धरोहर रखने वाला अपनी धरोहरको भूलकर कम बतावे तो उसको उतनी ही देना शेषको स्वयं जानता हुआ भी न देना ॥ ५६ ॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥

१—न्यासं परैर्निहितम् अपहरति इत्येवं शीलः न्यासापहारी णिन् इत्य। तस्य न्यासापहारिणो भावः न्यासापहारिता "भावे त्वतलौ" ५।१।११९ इति तल् स्त्रीत्वात् टाप्।

अकृशाचौर्यात् स्थूलचौर्यात्। उपारमणं तत्। तत् किं? यत् न हरति न गृह्णाति। किं तत्? परस्य परद्रव्यं। कथंभूतं? निहितं (वा) धृतं। तथा पतितं वा। तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन विस्मृतं। वा शब्द सर्वत्र परस्परसमुच्चये। इत्थंभूतं परस्वम् अविसृष्टम् अदत्तं परस्वं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै, तदकृशाचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम्।

अन्वय.—तत् अकृशाचौर्यात् उपारमणं भवति। यत् परस्वं न हरति न च अन्यस्मै दत्ते। कथंभूतं परस्वं? निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा अविसृष्टम्॥ ५७॥

निरुक्ति परस्य इदम् परस्वम् परद्रव्यं परधनमित्यर्थः। न विसृष्टम् अविसृष्टं अकृशं च यत् चौर्यं तत् अकृशाचौर्यम्, तस्मात्।

अर्थ—उसको स्थूल चोरी त्याग अणुव्रत कहते हैं जो परद्रव्यको न चुरावे है और न उस परद्रव्यको दूसरोंके लिये देवे है। कैसा है वह परद्रव्य? जोकि किसीका रक्खा हुआ पड़ा हुआ भूला हुआ अथवा छोड़ा हुआ हो—किसीने न दिया हो॥ ५७॥

तस्येदानीमतिचारानाह—

१—नि पूर्वक डुधाञ् धारणे धो 'स्त्रियां क्तिः' ३।३।८० इति क्ति 'धात्रो हि' ७।४।४२ इति हि आदेश निहित स्थापित न्यस्तमित्यर्थः। २—परश्चासौ स्व ज्ञातिरिति परस्व। ज्ञातिवाची स्वशब्द 'पुंसि वर्तते। स्व स्यात्पुं स्यात्मनि ज्ञातौ त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने' इति मेदिनी। जो दूसरी जाति (न्याति) को हरण करता है वह स्थूल चोरी है।

अचौर्याणुव्रतके अतीचार बताते हैं—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ५८

अस्तेये चार्यविरमणे । व्यतीपाता अतीचाराः पञ्च भवन्ति । तथा हि । चोरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं । चारार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं । विलोपश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः । विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति । सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः । सदृशेन तैलादिना सम्मिश्रं घृतादिकं करोति । कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वकं व्यवहारं करोति । हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः । मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं हीनेन अन्यस्मै ददाति अधिकेन स्वयं गृह्णातीति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अस्तेये पञ्च व्यतीपाताः स्मर्तव्याः । के ते पञ्च ? चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः च हीनाधिकविनिमानम् ।

निरुक्तिः—चौरस्य प्रयोगः इति चौरप्रयोगः । चोरस्य अर्थः चौरार्थः । चौरार्थस्य आदानं चौरार्थादानम् । सदृशं सन्मिश्रं । सदृशसन्मिश्रं । चौरप्रयोगश्च चौरार्थादानं च विलोपश्च सदृश-

१—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' ५।१।१२५ अनेन यत्प्रत्ययः न लोपश्च । नास्ति स्तेयं यस्मिन् ०

सन्मिश्रश्च इति चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्रा । हीन च अधि च विनिमान च यत्र तत् हीनाधिकविनिमान । विविध नियत मान ज्ञातिनियमो राजनियमो व्यापारनियमो देशनियमश्चेति विनिमानम्। नियमोंका अन्यथा कर करना।

अर्थ —अचौर्याणुव्रतके पाच अतीचार जानना, जो कि चोरी करनेकी प्रेरणा करना, १ चोरोंसे चोरीका द्रव्य लेना २ राजा और जातिके नियमोंका लोपना ३ जिससे धोखा दिया जा सके ऐसे समान स्वरूपी पदार्थोंका मिश्रण करना ४ भोजनादिकके देनेमे तोलनेमे निर्धार करनेमे न्याय करनेमें नाप तोलके बाटोमे तथा नियमोंमें हीन (न्यून) अधिक करना ॥ ५ ॥ ५८ ॥

सम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

ब्रह्मचर्याणुव्रतका लक्षण बतलाते हैं—

न तु परदारान् गच्छति,
न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्ति,
स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥

'सा परदारनिवृत्ति' यत् परदारान् परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च स्वय 'न च' नैव गच्छति। तथा परानन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति (परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च) कुत ? पाप

भीते पापोपार्जनभयात् न पुन नृपत्यादिभयात्। न केवल सा परदारनिवृत्तिरेयोच्यते किन्तु स्वदारसन्तोषनामापि स्वदारेषु सन्तोष स्वदारसन्तोषस्तन्नाम यस्या ॥ ५६ ॥

अन्वय -सा परदारनिवृत्ति भवति, अपि स्वदारसन्तोषनामा ज्ञातव्या। सा का? यत् पापभीतेः परदारान् न तु गच्छति च परान् न गमयति।

निरुक्ति -परस्य दारा परदारा परदारेभ्य निवृत्ति सा परदार निवृत्तिः। स्वस्य दारा स्वदारा। स्वदारेषु सन्तोष इति स्वदारसन्तोष। स्वदारसन्तोष नाम यस्य-इति स्वदारसन्तोषनामा।

अर्थ-यह परदारनिवृत्ति व्रत जानना। अथवा यह स्वदारसन्तोष व्रत जानना (वह क्या) जो भाव पापके भयसे परस्त्रीको नहीं प्राप्त करता न दूसरोंको प्राप्त कराता है। ५९

तस्यातिचारानाह-

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥

'अस्मरस्याब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य' पंच व्यतीचारा। पथमित्याह

१-दारो याचक पि दार शब्द पुल्लिङ्गे वचने नित्यबहुवचनान्तश्च अत्र गम् धातो चेतनात्मकमैथुनप्रापणार्थत्वान्न अप। 'चेष्टार्थानि कर्मण्यप्राप्ते द्वितीया' १।४।२३ अनेन द्वितीया विभक्तिर्विहिता

२-गमन् अत्र तु 'गत्यर्थकर्म...' ...१४१ अनेन अण्यन्तकर्तरि कर्म सद्यत्वात् द्वितीया।

"अन्येत्यादि" कन्यादान विवाह अन्यस्य अविवाह तस्य आसमन्तात् करण तच्च अनङ्गक्रीडा च अङ्ग लिंग योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादि प्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा। विटत्व भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोग। विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेश। इत्वरिकागमन परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली। कुत्साया के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमन चेति ॥ ६० ॥

अन्वय असमरस्य पञ्च व्यतीचाराः ज्ञातव्या। के ते पञ्च ? अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृष च इत्वरिकागमनम्।

निरुक्ति–न स्मर स्मरादिरूढो वा असमर तस्य। अन्यस्य विवाह अन्यविवाह, अन्यविवाहस्य आसमन्तात् करणम् अन्य विवाहाकरणम्। न अङ्गम् अनङ्गम्, अनङ्गेन क्रीडाकरणमिति अनङ्गक्रीडाकरणम्। अन्यविवाहाऽऽकरण च अनङ्गक्रीडा च विटत्व च विपुलतृट् च इति अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुल तृष। परपुरुषम् एति गच्छति सा इत्वरी। कुत्सिता इत्वरी इति इत्वरिका। इत्वरिकायाम् गमन सेवनमिति इत्वरिकागमनम् ॥६०॥

अर्थ–कामदयागके (परस्त्री त्यागव्रतके) पाच अतीचार जानना, जोकि, दूसरोंका विवाह करना १ अनिश्चित अन्य अङ्गोंसे भोग क्रिया करना २ भंड वचनादिसे कुचेष्टा करना ३ अधिक अधिक तृष्णा करना ४ व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध रखना ॥ ६० ॥

१–इण् गतौ धो क्विपणराजेष्टवरप् ' ३।२।१७६ अनेन टवर–पत्य तित्वात् स्त्रियां डी पुनः "कुत्सिताऽज्ञातादले" ४।२।१२८ अनेन नि शायामर्थ क त्य टाप्–पूर्वस्य इकारस्य च प्र ।

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह —

परिग्रहाणुव्रतका लक्षण बताते हैं—

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥६१॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहनिवृत्तिरणुव्रतं स्यात्। काऽसौ? या 'ततोऽधिकेषु' 'निःस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽधिकेभ्योऽर्थेषु या निःस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः। किं कृत्वा? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कम्? "धनधान्यादिग्रन्थं" धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि। आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमितपरिग्रहः इच्छापरिमाणनामापि स्यात्, इच्छाया परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः। ॥६१॥

अन्वय — धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततः अधिकेषु निःस्पृहता परिमितपरिग्रहः स्यात् तथा इच्छापरिमाणं नाम अपि कथयति।

निरुक्ति — धनं च धान्यं च धनधान्ये, धनधान्ये आदौ यस्मिन् सः धनधान्यादि, धनधान्यादिश्चासौ ग्रन्थश्च इति धनधान्यादिग्रन्थः तम्। निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः तस्य भावः

१-परिपूर्वक मा माने धोः 'परावरैक कर्तृकात्' ३।४।२१ इति क्त्वा तस्य च 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' ७।१।३७ अनेन ल्यप् आदेशः। "न ल्यपि" ६।४।६९ इत्व निषेधः। परिमाय-परिमाणं कृत्वा।

२-मृगयेच्छायाच्ञा ३।३।१०३ इति इच्छा शब्दो नि.।

निस्पृहता। परिमितः परिग्रहो यस्मिन् स परिमितपरिग्रहः ॥६१॥

अर्थ—धनधान्यादि परिग्रहोंका परिमाण करना उससे अधिक़में वाञ्छा न करना सो परिमितपरिग्रहाणुव्रत है। इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है ॥ ६१ ॥

तस्यातिचारानाह—

परिग्रहाणुव्रतके अतीचार कहते हैं।

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ६२

'विक्षेपाः' अतीचाराः। पञ्च 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य? "परिमितपरिग्रहस्य" न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पञ्चातीचाराः निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याह—"अतिवाहनेत्यादि" लोभातिगृद्धिनिवृत्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति, यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनम्। अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते। इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। तच्चातिसंग्रहीतं विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्य संग्रहाते चाधिकेऽर्थे तत्कापिकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकाङ्क्षावशादतिलोभं करोति। लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवहनम्। ते विक्षेपाः पञ्च ॥ ६२ ॥

अन्वय –परिमितपरिग्रहस्य विक्षेपा पञ्च स्हथ ते के ते पञ्च ? अतिवाहनात सग्रह विस्मय लोभानि भारवहनानि ॥६१॥

निरुक्ति –अतिवाहन च अतिसग्रहश्च विस्मयश्च लोभश्च अति भारवहन चेति अतिवाहनातिसग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।

अर्थ – परिमित परिग्रहव्रतके पाच अतीचार निश्चित किये गये हैं (जो कि) हाथी घोड़ा मोटर रथ आदि सवारियोंका प्रमाणसे अधिक रखना अधिक चलाना १ अधिक काल तक सग्रह रखना २ आश्चर्य (विषाद) करना ३ लोभ करना कजूसी करना ४ अधिक भार लादना ५॥६२॥

एव प्रतिपादितानि पचाणुव्रतानि निरतीचाराणि कि कुर्वन्तीत्याह—

अणुव्रतोंके धारण करनेका फल बताते हैं ।

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकं
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ।६३।

फलति फल प्रयच्छति । के ते ? पञ्चाणुव्रतनिधय पञ्चाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि । कथभूता ? निरतिक्रमणा निरतिचाराः । कि फलति ? सुरलोकम् । यत्र सुरलोके लभ्यन्ते । कानि ? 'अवधि' अवधिज्ञानम् । "अष्टगुणा" अणिमामहिमेत्यादय । दिव्यशरीर च सप्तधातुविवर्जित शरीर । एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

अन्वय —पञ्चाणुव्रतनिधय त सुरलोक फलति । कि भूता । पञ्चाणुव्रतनिधय ? निरतिक्रमणा । तम् कम् ? यत्र अवधि अष्टगुणा च दिव्यशरीर लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

१–कुलस्य प्राप्तौ इति घो "टी" ४।२।७ इति दः । "भाव-कर्मो इ" ।१।२।३१ इति सख्या । शेषक ७।१।८० यक विवरण ।

निरुक्ति-पञ्चाणुव्रतानि एव निधय: पञ्चाणुव्रतनिधयः निर्गता अतिक्रमणा येभ्य ते निरतिक्रमणाः । दिव्य च यत् शरीरं च दिव्यशरीरम् वैक्रियिक देहम् ॥ ६३ ॥

अर्थ-पांच अणुव्रतरूपी निधियां स्वर्गलोकको प्राप्त करती हैं-फलें हैं। कैसी हैं वह पांच अणुव्रतरूपी निधियां? जो कि अतीचाररहित हैं। वह कौनसा है स्वर्ग लोक? जिसमें अवधिज्ञान और अणिमादि अष्टगुण तथा दिव्य वैक्रियक शरीर मिलता है ॥ ६३ ॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठानं क्रियते इत्याशङ्क्याह-

एक एक भी अणुव्रतके पालन करनेसे जिन्होंने फल प्राप्त किया है उनमेंसे केवल एक एक व्रतीका नाम बताते हैं।

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम् ।६४।

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातङ्गेन चाण्डालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्त ।

अस्य कथा ।

सुरम्यदेशे पोदनापुरे राजा महाबलः । नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा अष्टदिनानि जीवाऽमारणघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चातिलंपटेन मांसासक्तेन अविदितं पुरुषमपश्यता राजोद्याने राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः । राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः । तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरिचटितेन स तं मारणं कुर्वाणो दृष्टः । रात्रौ च

निजभार्यया कथित, तत प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञ कथित । प्रभाते मालाकारोऽप्याकारित । तेनैव पुन. कथित, मदीयामाम्रां मम पुत्र खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो यत्कुमार खण्डखण्ड कारयेति ततस्त कुमार मारणस्थान नीत्वा मातङ्गमानेतु ये गता पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्त प्रिये । "मातङ्गो ग्राम गत" इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थित । तलारैश्चाऽऽकारिते मातङ्गे, कथित मातङ्ग्या सोऽद्य ग्राम गत । भणित च तलारै "स पापोऽपुण्यवानद्य ग्राम गत । कुमारमारणा त्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत्" तेषां वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया मातङ्गभीतया हस्तसञ्ज्ञया स दर्शितो ग्राम गत इति पुन॰ पुनर्भणन्त्या । ततस्तैस्त गृहान्नि सार्य तस्य मारणार्थ स कुमार समर्पित । तेनोक्त "नाद्य चतुर्दशीदिने जीवघात करोमि" ततस्त चौरै स नीत्वा राज्ञ कथित,। देव । अय राजकुमारं न मारयति । तेन च राज्ञ कथित "सर्पदष्टो मृत श्मशाने निक्षिप्त सर्वौषधि मुनिशरीरस्य वायुना पुनर्जीवितोऽह तत्कारणें चतुर्दशीदिवसे मया जीवाऽहिंसाव्रत गृहीतमतोऽद्य न मारयामि" देवो यज्जानाति तत्करोतु । अस्पृश्यचाण्डालस्य व्रतमिति सचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढ बन्धयित्वा शिशुमारद्रहे निक्षेपितौ । तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसा व्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनमणि मण्डपिकादुन्दुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यादिक कृत महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्नापयित्वा स स्पृश्यो विशिष्ट कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य ॥ १ ॥

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशय प्राप्त । अस्य कथा

जम्बूद्वीप पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौं । तत्र धनदेव' सत्यवादी द्रव्यस्य लाभ द्वाभ्यामर्धमर्ध गृहीष्याव इति नि साक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेश गतौ । बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ । तत्र जिनदत्तो लाभार्ध धनदेवाय न ददाति स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति । ततो कलहे न्याये च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो नि साक्षिकव्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेव भणितम् । धनदेवस्तु सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव । ततो राजनियमात्तयोर्दिव्य (?) दत्त, धनदेव. शुद्धो नेतर तत. सर्वं द्रव्य धनदेवस्य समर्पित तथा सर्वैः पूजित, साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य ॥ २ ॥

अचौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशय प्राप्त । अस्य कथा स्थित करणगुणव्याख्यानप्रघट्टके कथितेह (३८ तमे पृष्ठे) दृष्टव्यति, तृतीयाणुव्रतस्य ॥ ३ ॥

तत पर नीली जयश्च । ततस्तेभ्य पर यथा भवत्येव पूजातिशय प्राप्तौ तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशय प्राप्ता । अस्या' कथा ।

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपाल वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीला अतिशयेन रूपवती । तत्रैवाऽपर श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्र सागरदत्त' । एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण सुस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य

सागरदत्तेनोक्त किमेशा दिवना काचिदेतदाश्चर्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितम्—जिनदत्तश्रेष्ठिन इय पुत्री नीली। त्दूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा यथमिय प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जात । समुद्रदत्तेन चैतदाश्चर्य भणित —हे पुत्र! जैन मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुम्। ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा, तत पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नीलयाश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धम्, एव वचने जाते भणित जिनदत्तेन इय मम न जाता कूपे वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वशुरगृहे भर्तु वल्लभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती । दर्शनात् संसर्गाद् धर्मवचनाकर्णनाद्वा कालेनेय बुद्धभक्ता भविष्यतीति धर्मदेवरचनाऽऽपर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता न सा पुत्री। ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजन देहि। ततस्तया वन्दकानामन्त्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहित तिपिष्टा सस्कार्य तेषामेव भोक्तु दत्ता । तैर्भोजन मुक्त्वा गच्छद्भिः पृष्ट—क्व प्राणहिता ? तयोक्त भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु "यत्र तास्तिष्ठन्ति" यदि पुनर्ज्ञान नास्ति तदा वमन कुर्वन्तु, भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति । एव वमन कृत दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि । ततो रुष्टश्च श्वशुरपक्षजन । तत सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता । तस्मिन् प्रसिद्धि गते सा नीली देवाग्रे सगृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता 'दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति' । तत क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता । हे महासति! 'मा प्राणत्यागमेव कुरु' अह राज्ञ प्रधानाना पुरजनस्य च स्वप्न ददामि। लग्ना यथा नगरप्रतोल्य कीलिता 'महासती वामचरणेन संस्पृश्य उद्घटिष्यन्तीति ताश्च प्रभाते

अन्वय –मातङ्ग च धनदेव तत पर वारिषेणः नीली च जय ऐते क्रमशः पञ्चाणुव्रतप्रभावात् उत्तम पूजातिशय सम्प्राप्ता ।

निरुक्ति –पूजाया अतिशय इति पूजातिशय त पूजातिशयम् ।

अर्थ–मातङ्ग और धनदेव उसके आगे वारिषेण नीली और जय ये पाचों क्रमसे अणुव्रतके प्रभावसे उत्तम बढ़ती हुई पूजाको प्राप्त हुवे हैं ॥ ६४ ॥

एव पचानामहिंसादिव्रताना प्रत्येक गुण प्रतिपाद्येदानी तद्विपक्षभूताना हिंसाद्युपेतानां दोष दर्शयन्नाह—

एक भी पाप करनेसे जिन्होंने दुर्गति पायी है उनमें से एक एकका नाम दिखाते हैं–

धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रु नवनीतो यथाक्रमम् ।६५

धनश्री श्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकार दु खफलमनुभूत । सत्यघोषपुरोहितेनानृतात् । तापसेन चौर्यात् । आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्मणि वृत्यभावात् । परिग्रहतृष्णातो लुब्धदत्त श्मश्रुनवनीतेन च । ततो दुःखप्रभवदु खानुभवने उपाख्येया व्याख्यान्तत्वेन प्रतिपाद्या । के ते ? धनश्रीसत्यघोषौ च । न केवल एता एव किन्तु तापसारक्षकावपि । तथा तत्रैव प्रसिद्धप्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदु खमनुभूत । यथाक्रम उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येया प्रतिपाद्याः तत्र धनश्री हिंसातो बहुदु ख प्राप्ता ।

१–वारिषेण अत्र पत्वयाः ५।४।८७ इति सूत्र यत्कारान्तेन ।
२–स प्राप्ता अत्र धिम यथाच्च ४।२।११ अनेन कर्तरि क्त ।

अस्या कथा।

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपाल । वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता । तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपाल । अत्र काले धनश्रिया य पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालक पोषित , धनपाले मृते तेन सह धनश्री कुकर्मरता जाता गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके जाते धनश्रिया तच्छङ्कितया भणित प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि त्वमपि तत्र मारय येनावयोर्निरङ्कुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणा मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितम्—अद्य रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यत सावधानो भवेस्त्वमिति । धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो हे पुत्र ! कुण्डलस्य शरीरं निरूपकं वर्तते अत प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थित । कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घात कृतो गुणपालेन च खड्गेन हत्वा मारित । गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्ट । "क्व रे कुण्डल" तेनोक्तं कुण्डलवार्तामयं खड्गोऽभिजानाति । ततो रक्तलिप्तबाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारित । तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता । कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता । राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासिकाच्छेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुव्रतस्य ।

सत्यघोषोऽनृताद्दुःखं प्राप्त । इत्यस्य कथा ।

जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः स यज्ञसूत्रे कर्त्तिकां बध्वा भ्रमति । वदति च यद्यसत्यं भणामि तदाऽनया कर्त्तिकया निजजिह्वाच्छेदं करोमि । एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातं लोकश्च विश्वासात्तदग्रे द्रव्यं धरति च । तद्द्रव्यं किंचित्तेषां समर्प्य स्वयं गृह्णाति । पूत्कर्तुं च बिभेति लोकः, न च पूत्कृतं राजा शृणोति । अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तस्य सत्यघोषस्याग्रेऽनर्घ्याणि पञ्चमाणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जितुं गतः । तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहणः एकफलकेनोत्तीर्य समुद्रं भूतमाणिक्यग्रहणाय सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः । तं च रङ्कमिवागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं । अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि याचिष्यतीति । तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोष पुरोहित ! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जितार्थस्य महाननर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि । येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि । तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद्भणितं भवतां सत्यं जातं । तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निःसार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति मन्यमानः । पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपञ्चमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि तथा राजगृहसमीपे चिञ्चावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् षण्मा-

मार् स्थित, तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितं सिंहसेन'— देव ! न य पुरुष प्रहेत । राज्ञापि भणित—किं सत्यघोषस्य चौर्यं सम्भाव्यते ? । पुनरुक्तं तया देव ! सम्भाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽयमेतादृशानेव सर्वदा वचन ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा—यदि सत्यघोषस्यैतत् सम्भाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति । लब्धादेशया राम दत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य पृष्ट - किं बृहद्वेलाया मागतोऽसि ? तेनोक्तं—मम ब्राह्मणीभ्रातुश्च प्राघूर्णक समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति । पुनरप्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रोपविश ममातिकौतुकं जातं । अक्षक्रीडां कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येव कुर्वित्युक्तं । ततोऽक्षद्यूते क्रीडया सञ्जाते रामदत्तया निपुणमतिवि लासिनी कर्णे लगित्वा भणिता—सत्यघोष पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं महिलमाणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मणीमग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तया गत्वा याचि तानि तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि । तद्विला सिन्या चागत्य देविकर्णे कथित सा न ददातीति । ततो जितमु द्रिका तस्य साभिज्ञान दत्त्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्त्रिका यज्ञोपवीतं जित साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च । तया ब्राह्मण्या तद्दर्शनाद् दुष्टया भीतया च तया समर्पितानि माणि क्यानि तद्विलासिन्या । तया च रामदत्ताया समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि । तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याऽऽकार्य च महिलो भणित , रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च

... पे. राज्ञा रामदत्तया च पुत्र प्रतिपन्न । ततो राज्ञा

सत्यवोप' पृष्ट.-इद कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्त देव ! न करोमि स्म ! किं ममेदृश कर्तुं युज्यते ? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रय कृतम् । गोमयभृत भाजनत्रय भक्षय, मल्लमुष्टिघात वा सहस्व, द्रव्य वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमय खादितुमारब्ध । तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्ध । तदशक्तेन द्रव्य दातुमारब्ध । तदशक्तेन गोमयभक्षण पुनर्मुष्टिघात इति । एव दण्डत्रयमनुभूय मृत्वाऽतिलोभवशाद्राजकीयभाण्डागारे अलघनसर्पो जात । तत्रापि मृत्वा दीर्घससारी जात इति द्वितीयस्तस्य ।

तापसश्चौर्याद्दुःख प्राप्त । इत्यस्य कथा।

वत्सदेशे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहरथो राज्ञी विजया । [illegible] करचार कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशद्[illegible] स्थो दिवसे पच भिक्षाटन करोति । तत्र च [illegible] तिष्ठति । एकदा महाजना मुष्ट नगरमाकर्ण्य राज्ञा [illegible] र ममराजनध्ये चौर निजशिरो वाऽऽनय । [illegible] तापर तलारोऽगाह बुभुक्षितब्राह्मणेन [illegible] तेनोक्त हे ब्राह्मण ! छन्दसोऽसि, मम [illegible] भोजन प्रार्थयसे एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्ट [illegible] न्देह ? कथित च तेन । तदाकर्ण्य [illegible] को‍ऽप्यतिनिस्पृहपुरुषोऽप्यस्ति ? [illegible] पत्नी, न च तस्यैनत् सम्भाव्यते । [illegible] भविष्यति अतिनिस्पृहत्वात् । [illegible]

कपटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्नानं ददाति। रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति। तद्दर्शनात् सञ्जातवैराग्योऽहं मगलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैक बटुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नेन करोमि। तेनाऽऽकलितं यष्टि सगें विभर्मि। एकदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रां कृत्वा दूरगत्वा तेन निजमस्तके लग्न कुथितृणमालोक्यातिकुटकुटे ममागतो, हा हा मया नोक्त परतृणमदत्तं ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुम्भकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचितामिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टि कुक्कुरादिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः ॥२॥ ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽपि कुक्कुट दृष्ट यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलित पक्षिगणो रात्रावेवैनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो-रे रे पुत्रा ! अहं अतीव गन्तु न शक्नोमि बुभुक्षितमना कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बद्ध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तं हा हा तात ! पितामहस्य किं तवैतत् सम्भाव्यते ? तेनोक्तं-"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तं मुखं बद्ध्वा गता स च वृद्धो गतेषु तेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं दूरीकृत्य तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखे मयोजयितुकुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३)। ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुक्कुट दृष्ट यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तापस्विरूपं धृत्वा वृद्धशिला च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा

नगरमध्ये दिवा रात्रौ घातिमुक्कुटेनापसरपाद ददामीति [illegible]
भ्रमति । "अपसरजीवेति" चासौ मकसर्वजनर्भण्यते । [illegible]
द्विजनस्थाने दिगम्बलोन कृत्वा सुवर्णभूषितमेराद्विनं [illegible]
त्या शिलया मारयित्वा तद्द्रव्य गृह्णाति (४) इत्य[illegible]
समालोच्य मया श्लोकोऽय कृत —

अवान्तरपशुका नारी, ब्राह्मणस्तृणहिंसकः ।
वने काष्ठमुख पक्षी पुरेऽपसरजीवकः । [illegible]

इति कथयित्वा तत्रार धीरयित्वा स [illegible]
स्विसमीप गया तपस्विप्रतिचारवैनिर्वा[illegible]
तत्र पतिःस्वैरदेश स्थित । ते च प्रति[illegible]
वृणरज्जुशागुल्यादिक तस्याग्निसमीप [illegible]
पश्यति वृद्धब्राह्मो गुहायाम धकूपे [illegible]
स्नानपानादिव चाऽऽलोक्य प्रमाते [illegible]
तेन रात्रिदिवमात्रेच शिक्ष्यतामं[illegible]
दिमि कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गति [illegible]

सा मे जननी भविष्यति। ततस्तस्या जारसङ्केतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतः स्थित । एकदा तद्भार्यया असहनादतिरुष्टया रजक्या कथित । मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति । रजक्या च मालाकारिण्या कथितम् । अतिविस्मरता मालाकारिणी च कनकमाला राज्ञीनिमित्त पुष्पाणि गृहीत्वा गता । तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे कामप्यपूर्वां वार्तां । तया तला रक्षिपुत्रस्य कथित राज्ञ्य , देवि ! यमदण्डतलारो निजजनन्या सह तिष्ठति । कनकमालया च राज्ञ कथित। राज्ञा गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य तलारो गृहीतो दुर्गतिं गत , चतुर्थव्रतस्य ।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतर दु ख प्राप्तम् । अस्य कथा

अस्ति अयोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूर गत,। समुपार्जित तस्य चौरैर्नीत। ततोऽतिनिर्धनेन तत्र तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुह तक्र पातु याचितम् तक्रे पीते स्तोक नवनीत कूर्चे लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तित तेन वाणिज्य भविष्यत्यनेन मे, एव च तत्सचितम् । तत् तस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जात। एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजन पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्नि च पादान्त कृत्वा रात्रौ संस्तरे पतित , सचिन्तयति "अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपद प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा तदा च मे सप्ततलप्रसादे शय्यागतस्य पादान्ते समुपविष्ट स्त्रीरत्न पादौ मुष्ट्या गृहीष्यति "न जानासि पादमर्दन कर्तुमिति" स्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेन पादेन ताडयिष्यामि, एव चिन्त-

पित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातिन तद्रूनभाजन, तेन च घृतेन द्वारसधुक्षितोऽग्नि. सुतरां प्रज्वालित । ततो द्वारे ज्वलिते निस्सर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गत* । इच्छाप्रमाणरहित स्य पञ्चमव्रतस्य ॥ ६४ ॥

अन्वय —धनश्री सत्यघोषौ अपि च तापसा रक्षकौ तथा श्मश्रुनवनीत एते पचपापेभ्य यथा क्रमम् उपाख्येया. ॥

निरुक्ति —धनश्रीश्च सत्यघोषश्च इति धनश्रीसत्यघोषौ। तापमश्च आरक्षकश्चेति तापसारक्षकौ । श्मश्री नवनीतो यस्य स श्मश्रुनवनीत ॥ ६५ ॥

अर्थ—धनश्री सत्यघोष और तापस तथा कोटवाल और श्मश्रुनवनीत ये पाचों पापोंसे दुर्गतिको प्राप्त हुये हैं इसे उपाख्यान-उदाहरण इतिहासोंमे हैं ॥ ६५ ॥

यानि चेमानि पञ्चाणुव्रतानुक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह—

श्रावकोंके आठ मूलगुण होते है, उनके नाम बताते हैं।

मद्यमांसमधुत्यागै, सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहु र्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

१–उपाख्यातुम् उद्दाहर्तु आहर्तु योग्या उपाख्येया उप आङ् पू ाक ख्या प्रथने धो 'योऽचोऽयाम्नु " ५।१।०२ इति य पुन 'ईद्ये" ४। ईकारादेश 'गागया " ।१।६७ अनेन

गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहु[1] । के ते [2] श्रमणोत्तमा जिना । किं तत्[1] अणुव्रतपञ्चकम् । कैः सह [2] 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्य च मांस च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥ २० ॥

अन्वयः–श्रमणोत्तमा गृहिणाम् अष्टौ मूलगुणान् आहुः, के ते ? [2] मद्यमांसमधुत्यागैः सह अणुव्रतपञ्चकम् ॥६६॥

निरुक्तिः–श्रमणेषु उत्तमा श्रमणोत्तमा । मद्य च मांस च मधु च इति मद्यमांसमधूनि । मद्यमांसमधूना त्यागः इति मद्यमांसमधुत्यागः तैः मद्यमांसमधुत्यागैः । अणुव्रतानां पञ्चकम् इति अणुव्रतपञ्चकम् । मूलरूपा ये गुणा मूलगुणा ॥ ६६ ॥

अर्थ–गणधर देवोंने गृहस्थियोंके आठ मूलगुण बताये हैं । जोकि मद्यत्याग १ मांसत्याग २ मधुत्याग ३ अहिंसा अणुव्रत ४ सत्य अणुव्रत ५ अचौर्य अणुव्रत ६ परस्त्रीत्याग ७ परिग्रह प्रमाण ८ हैं ॥ ६६ ॥

१–सहार्थान २।३ २८ अनेन सम्बन्धे तृतीया ।
२–पञ्चानां सम समूहः पञ्चक । "संख्यायाः सघसूत्राधीते" ५।१।५८ "पञ्च इत्यादि यत् वा" ५।१।६१ इत्य पतसख्या क ।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धान्तशास्त्रिणा निरुक्त्या पङ्क्तिकयादिटीकयाख्यया च अणुव्रतवर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥



सद्वृत्ते गुणव्रताधिकारः।

एव पचप्रकारमणुव्रत प्रतिपाद्येदाना त्रि प्रकार गुणव्रतमाख्यातु

गुणव्रतका लक्षण कहते हैं

दिग्व्रतमनर्थदण्ड व्रत च भोगोपभोगपरिमाण।
अनुबृंहणाद्गुणाना माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥

"आख्याति" प्रतिपादयति। कानि? "गुणव्रतानि"। के ते। "आर्या" गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्ते [illegible] देवादय। किं तद् गुणव्रत? "दिग्व्रत" [illegible] देव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रत' चानर्थदण्डविरति। तथा "भोगोपभोग परिमाण" सकृद् भुज्यत इति भोगो [illegible] पुन पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्राभरण[illegible]दि तयो परिमाण कालनियमन यावज्जीवन वा [illegible] कस्मा-द् गुणव्रतान्युच्यते "अनुबृंहणात्" [illegible]। केषा "गुणा नाम्" अष्टमूलगुणानाम् ॥ ६७॥

अन्वय —आर्या दिग्व्रतम् [illegible] भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रतानि आख्यान्ति, [illegible] अनुबृंहणात्॥

निरुक्ति —दिशाद् व्रत [illegible]। नास्ति अर्थो लाभ प्रयोजन येभ्यस्ते अनर्थाः। अनर्थाश्च ते दण्डा अनर्थदण्डा। अन दण्डाना व्रतम् अनर्थदण्डव्रतम्। [illegible] भोगाश्च उपभोगाश्च भोगोपभोगौ। भोगोपभोगयो परिमाण [illegible]। गुणान् वृंहयन्ति वर्धयन्ते [illegible]॥ ६७॥

अर्थ-आचार्य भगवान् दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इनको गुणव्रत कहते हैं। क्योंकि ये तीनों गुणोंको (अणुव्रतोंको चरित्रोंको) बढ़ाते हैं इससे इनको गुणव्रत कहते हैं ॥६७॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूप प्ररूपयन्नाह—

दिग्व्रत गुणव्रतका लक्षण कहते हैं —

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥

'दिग्व्रत भवति। कोऽसौ? 'सङ्कल्प'। कथम्भूत? अह बहिर्न यास्यामीत्येवं रूप। किं कृत्वा? 'दिग्वलय परिगणित कृत्वा' समर्याद कृत्वा। कथ? 'आमृति' मरणपर्यन्त यावत्। किमर्थम्? "अणुपापविनिवृत्त्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥६८॥

अन्वय-इति सङ्कल्प दिग्व्रत भवति। इतीति किम्? "अह दिग्वलय परिगणित कृत्वा अतः बहिः न यास्यामि, कस्यै सिद्ध्यै? अणुपापविनिवृत्त्यै। कम्पर्यन्तम्? आमृति।

निरुक्ति-दिशा वलय दिग्वलय तम् दिग्वलयम्। अणु च यत् पाप अणुपाप अणुपापस्य विनिवृत्ति अणुपापविनिवृत्ति तस्यै पापविनिवृत्त्यै। मृते पर्यन्तम इति आमृति ॥६८॥

अर्थ-इस प्रकार सङ्कल्पकर प्रतिज्ञा करना सो दिग्व्रत है। किस प्रकारका सङ्कल्प? जो कि मैं दिशा समूहका

१-पर्यपाङ्बहिरञ्चः ११३।१० इति सूत्र। अव्ययीभाव "हात्" १।४।६८ इति रूप उप।

परिमाण कर उसके बाहर न जाऊंगा, किस सिद्धिके लिये सूक्ष्मपापोंकी भी निवृत्तिके (दूर करनेके) लिये कबतक जीवन पर्यंत ॥ ६८ ॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह—

दिग्व्रतकी मर्यादाओंको बताते हैं—

मकराकरसरिदटवी-
गिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

प्राहुर्मर्यादा । कानीत्याह—'मकराकरे'त्यादि मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्या , अटवी दण्डकारण्यादिका, गिरश्च पर्वत' सह्यवि न्यादि , जनपदो देशो वराट वापीतटादि , योजनानि विंशतित्रिंशतादिसंख्यानि । किं विशिष्टान्येतानि ? प्रसिद्धानि दिग्विरतिमर्यादानां दातृगृहीतृश्च प्रसिद्धानि । कासां मर्यादा ? दिशां । कतिसंख्यावच्छिन्नानां ? दशानां । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादा ? प्रतिसंहारे इत' परतो न यास्यामीति व्यावृत्तौ ॥ ६९ ॥

अन्वय —दशानां दिशां प्रतिसंहारे मकराकर सरिदटवी गिरिजनपदयोजनानि मर्यादा प्राहु कथंभूतानि तानि ? प्रसिद्धानि ॥

निरुक्ति —मकराकरश्च सरिच्च अटवी च गिरिश्च जनपदश्च

१-सरित् स्रोतस्विनी धुनी सिंधु , स्रवंती निम्नगाऽपगा । नदी नदो द्विरेफश्च, सरिन्नाम्नी तरंगिणी ॥२४॥ इति धनञ्जय नाममाला ।

योजन च इति मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि ॥ ६९ ॥

अर्थ–(दशों दिशाओंके संकोचनमें) दिग्व्रत करनेमें गणधरदेव समुद्र, नदी, वनी, पर्वत, देश और योजन इनको मर्यादा बताते हैं। कैसे हैं ये समुद्रादिक ? प्रसिद्ध हैं (जिनके नाम लोक प्रसिद्ध हो रहे हैं) ॥ ६९ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह–

दिग्विरतिसे अणुव्रतोंमें क्या वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं

अवधेर्बहिरणुपाप,
प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणति मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते । काम ? पञ्चमहाव्रतपरिणतिम् । केषां ? धारयताम् । कानि ? दिग्व्रतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? अणुपाप प्रति विरते सूक्ष्ममपि पाप प्रति विरते व्यावृत्ते । क ? बहि । कस्मात् ? अवधे कृतमर्यादाया ॥ ७० ॥

अन्वय –दिग्व्रतानि धारयतां श्रावकानां अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रत परिणतिं प्रपद्यन्ते कस्मात् हेतो ? अवधे बहि अणुपाप प्रति विरते ।

निरुक्ति — अणु च यत् पापम् अणुपाप । पञ्चानां महाव्रतानां परिणति इति पञ्चमहाव्रतपरिणति ताम् ॥ ७० ॥

१–अवधेरित्व ... ग याधान्युद्व्याहातराराद्वहिर्युक्ते" २।४।३३ अनेन पञ्चमी विभक्ति । बहिरिति हो योगात् ।

२–अत्र 'भागे त्राज प्रतिपरिणा' १।३।०४ द्वितीया विभक्ति

अर्थ–दिग्व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंके अणुव्रत पच महाव्रतके परिणामको प्राप्त हो जाते हैं। किस हेतुसे ? जो कि की हुई मर्यादाओंके बाहर क्षेत्रमें सूक्ष्म भी हिंसादिक पापोंका त्याग हो जानेसे ॥७०॥

तथा तेषा तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह –

दिग्विरती आदि गुणव्रतोंके धारण करने वाले श्रावकोंके अहिंसादिक व्रत महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हुए कारिका कहते हैं–

प्रत्याख्यानतनुत्वा न्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥७१॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपारचारित्रमोहपरिणतय । प्रकल्प्य ते उपचर्य ते ("कल्प्यन्ते' उपचर्य ते) । किमर्थम् ? महाव्रतनिमित्तम्। कथभूता स त ? 'सत्त्वेन दुरवधारा' अस्तित्वेन, महता कष्टेनावधार्यमाणा सतोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितु न शक्य त इत्यर्थ । कुतस्ते दुरवधारा ? 'म दतरा' अतिशयेनानुत्कटा । म दतर नमप्येषा कुत ? 'प्रत्याख्यानतनुत्वाद्' प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानावरणा । द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्य ते, नाम्नैकदेशे हि प्रवृत्ता शब्दा नाम यपि वर्त ते भीमादिवत् । प्रत्याख्यान हिंसाविरत्येन हिंसादिविरतिलक्षण सयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादय, यदुदये ह्यात्मा कात्स्न्यर्तो विरति कर्तु न शक्नोति द्रव्यरूपाना क्रोधादीना तनु

त्व सिद्धम् ॥ ७१ ॥

योजन च इति मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि ॥ ६९ ॥

अर्थ–(दशो दिशाओंके संकोचनमें) दिग्व्रत करनेमें गणधरदेव समुद्र नदी, वनी, पर्वत, देश और योजन इनको मर्यादा बताते हैं। कैसे हैं ये समुद्रादिक ? प्रसिद्ध हैं (जिनके नाम लोक प्रसिद्ध हो रहे हैं)॥ ६९ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह–

दिग्विरतिसे अणुव्रताम क्या वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं

अवधेर्बहिरणुपाप,
प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणति मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते । काम् ? पञ्चमहाव्रतपरिणतिम् । केषां ? धारयताम् । कानि ? दिग्व्रतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? अणु पापं प्रति विरते सूक्ष्ममपि पापं प्रति विरते व्यावृत्ते । क ? बहि । कस्मात् ? अवधेः कृतमर्यादायाः ॥ ७० ॥

अन्वय –दिग्व्रतानि धारयतां श्रावकानां अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रत परिणतिं प्रपद्यन्ते कस्मात् हेतोः अवधेः बहिः अणुपापं प्रति विरतेः।

निरुक्ति — अणु च यत् पापम् अणुपापं । पञ्चानां महाव्रतानां परिणतिं इति पञ्चमहाव्रतपरिणतिं ताम् ॥ ७० ॥

१–अपपरिबहिः [illegible] ... ११४१३२ अनेन पञ्चमी विभक्ता । बहिरिति [illegible] योगात् ।

२–[illegible] 'भागे चानु प्रतिपरिणा' ११४१९० द्वितीया विभक्तो

अर्थ–दिग्व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंके अणुव्रत पञ्च महाव्रतके परिणामको प्राप्त हो जाते हैं। किस हेतुसे ? जो कि की हुई मर्यादाओंके बाहर क्षेत्रमें सूक्ष्म भी हिंसादिक पापोंका त्याग हो जानेसे ॥७०॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह –

दिग्विरती आदि गुणव्रतोंके धारण करने वाले श्रावकोंके अहिंसादिक व्रत महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हुए कारिका कहते हैं–

प्रत्याख्यानतनुत्वा न्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामा। सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥७१॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतय । प्रकल्प्य ते उपचर्य ते ("प्रकल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते)। किमर्थम् ? महाव्रतनिमित्तम्। कथंभूता सन्त ? 'सत्त्वेन दुरवधारा' अस्तित्वेन महता यत्नेनावधार्यमाणा सन्तो ऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितु न शक्यन्त इत्यर्थ । कुतस्ते दुरवधारा. ? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटा। मन्दतरत्वमप्येषां कुत. ? 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्' प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानावरणा । द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्यन्ते, नामैकदेशे हि प्रवृत्ता शब्दा नामन्यपि वर्तन्ते भीमादिवत् । प्रत्याख्यान हिंसाविरत्येन हिंसादिविरतिलक्षण संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादय', यदुदये आत्मा कार्त्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति अतो द्रव्यरूपाणां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणां तेषां मन्दतरत्व सिद्धम ॥ ७१ ॥

अन्वय—प्रत्याख्यानतनुत्वात् चरणमोहपरिणामाः मन्दतराः भवन्ति। ते भावेन दुरवधाराः सन्तः महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥

निरुक्ति—प्रत्याख्यानस्य तनुत्वं मृदुत्वं प्रत्याख्यानतनुत्वं, तस्मात्। चरणं मोहयन्ति इति चरणमोहाः। चरणमोहस्य परिणामाः इति चरणमोहपरिणामाः। अतिशयेन मन्दाः इति मन्दतराः। सतो भावः सत्त्वं तेन सत्त्वेन। दुःखेन कष्टेन वा अवधार्यन्ते इति दुरवधाराः। महच्च तत् व्रतं महाव्रतं तस्मै॥

अर्थ—प्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द परिणमन होनेसे चारित्र मोहनीय कर्मके परिणाम भी मन्दतर हो जाते हैं। वे "हैं" विद्यमान हैं ऐसा भी बड़ा कठिनतासे निश्चित किया जाता है। किन्तु वही परिणाम महाव्रतोंको विकृत करते रहते हैं। उन महाव्रतोंको पूर्णरूप से निरन्तर

१—प्रत्याख्यानं सकलचारित्रमावरयति आच्छादयतीति प्रत्याख्यानावरणमिति कषायवेदनीयविकल्पस्य नाम। तस्य "लोप" ४।३।२६ इत्यनेन आवरणपदस्य लोपः प्रत्याख्यानमिति पदं श्रूयते। २—"द्विविभक्त्येतर" ४।१।१६१ इति तल् त्व। ३—"भावे त्व तल्" ३।४।१३६ इति त्व त्य अस्तित्वेन इत्यर्थः, "प्रकृत्यादिभ्य" १।४।३३ इति भा। ४—अत्र "क्लृप्यर्थेऽधिकारे" १।४।२६ अनेन कर्मणि प्रकल्प्यन्ते इति क्रियायोग "अप्" विभक्ती। मपतरात् कृपूङ् सामर्थ्ये इति धोः कर्तरि लट् भ—अन्ते कृते शप् "याणयो" ५।२।६१ इति यप् तत ऋपोदोलोऽऋपादीनाम्" ५।३।८१ इति रेफस्य लकारादेशः। प्रकल्पन्ते—विकुर्वते दूषयन्ति च।

नहीं रहने देते । क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण कषा-यका उदय है और जबतक कि कषायवेदनीयकी तीसरी चौकड़ी नहीं नष्ट होगी तबतक महाव्रत नहीं प्रकट होते ऐसा सिद्धांत है ॥ ७१ ॥

भावार्थ—की हुई मर्यादाओंके बाहिर क्षेत्रोंमें स्थावर प्राणियोंकी हिंसा चोरी आदि पापका तथा अपने निमित्तसे होनेवाली (होसकनेवाली) त्रस प्राणियोंकी विरोधी आरम्भी उद्यमी हिंसाके तथा सूक्ष्म चोरी आदि पाप प्रवृत्तियोंके परित्याग होनेसे इस गुणव्रती श्रावकके अणुव्रत महाव्रतकी पर्याय को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि चारित्रमोहनीयके कषायवेदनीयकी जो तीसरी चौकड़ी प्रत्याख्यानकषाय कहा है उसके सूक्ष्म अंशोंके क्षयोपशम होनेसे वह चारित्रमोहनीय प्रकृति जो महाव्रतोंकी घातक थी वह अपने फल प्रदान करनेमें मन्द शक्तिवाली (अर्थात् निर्बल) हो जाती है कि उसका अस्तित्व (चिन्ह) कठिनतासे जाना जा सकता है परन्तु उस प्रत्याख्यान कषायका उदय उसके अवश्य रहता है इससे उसके परिणाम महाव्रतोंमें विकृतिको उत्पन्न करते रहते हैं। यह मार्ग 'महाव्रताय' इस पदमें रा हुई चतुर्थी विभक्ति का है। यह जैनेन्द्र व्याकरणके १।४।२८ सूत्रसे जाना जाता है। जो कि भगवान् समन्तभद्र स्वामीने ७१ वी कारिकामें भर दिया है। गुणव्रती गृहस्थोंके मन वचन काय योगके कृत कारित और अनुमोदनारूप नव भङ्गोंसे महाव्रत नहीं हो सकते, किंतु महाव्रत तो नव भङ्गरूप गृहत्यागी दिगम्बर जिनदीक्षा धारक ऐसे महा-

पुरुषोंके ही होते हैं ऐसा भाव ७२ वी कारिकामें दिये हुये "तु" शब्दसे ज्ञात कराया है।

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते न पुन साक्षा महाव्रतरूपा भवन्तीत्याह-

महाव्रतोंको धारण करनेवाले तो आगममें ऐसे बताये गये हैं जोकि समस्त प्रकार के वस्त्रादि परिग्रहोंके त्याग करने वाले महत् पुरुष ही होसकते हैं ऐसा बताते हैं। अथवा वे दिग्विरत आदि महाव्रतोंको क्यों अव्यक्त (विकृत) करते रहते हैं किंतु वे व्यक्त महाव्रती नहीं होते ऐसा बताते हैं।

पञ्चाना पापानां हिंसादीना मनोवच कायै ।
कृतकारितानुमोदै स्त्यागस्तु महाव्रत महताम् ॥

"त्यागस्तु" पुनर्महाव्रत भवति। केषां त्याग "हिंसादीना" "पञ्चानां"। कथभूतानां "पापानां" पापोपार्जनहेतुभूतानाम्। कैस्तेषां त्याग "मनोवच कायै"। तैरपि कै कृत्वा त्याग "कृत कारितानुमोदैः"। अयमर्थ हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदै स्त्याग। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रत "महताम्" प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिना विशिष्टात्मनाम्॥ ७२ ॥

अन्वय — कृतकारितानुमोदै मनोवच कायै हिंसादीनां पञ्चानां पापानां त्याग महाव्रत कथ्यते। तत्तु महताम्पुरुषाणामेव भवते ॥

निरुक्ति.—हिंसा आदौ येषां ते कृतश्च कारितश्च अनुमोदश्चेति

कृतकारितानुमोदा' तै । मनश्च वचश्च कायश्चेति मनोवच काया तै, । हिंसा आदौ येषां तानि हिंसादीनि, तेषाम् । त्यजन परिवर्जन त्याग । महतां पुरुषपुरुषाणां व्रतमिति महाव्रतम् । महान्ते पूयन्ते इति महान्त , तेषाम । तुं इतिकि महव्यन्दम् मंदे वर्तने-वाक्यान्ते योतयति । तथा कनआरब्धेर्ये यतते । महतामेव जायते स्याध्ते ।

अर्थ किये गये कराये गये और अनुमोदित किये ऐसे मनसे या वचनसे तथा कायसे हिंसादिक पापों पापों-का त्याग कर देना या महाव्रत कहा जाता है । वह महान पुरुषोंके ही होता है । निबल मीर जो नग्न आदि परीषहोंको नहीं सह सकते हैं, पर कुटुम्बमे ममत्व नहीं छोड़ सकते उनके ये महाव्रत नहीं हो सकते । किंतु दिग्विरति आदि गुणव्रतोंके धारण करनेसे अतीव महत्व उन्नति वृद्धि अवश्य होती है । ऐसा इन कारिकाओंका सम्बन्ध कर अर्थ बताया गया है ॥ ७२ ॥

इ नी दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह—

दिग्व्रतके अतीचार कहते हैं

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥

१-"आय महतो आतोये च" ६।३।४६ इति सूत्रेण महत् शब्द आकारोऽ त्र-तु स्याद् मदेऽत्यताणे

"दिग्विरतेरत्याशाः" अतीचाराः "पञ्च मन्यन्तेऽभ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाताः विशेषणातिक्रमणानि त्रय। तथा अज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धि' क्षेत्राधिक्यावधारणम्। तथा 'अवधीनां' दिग्विरते कृतमर्यादानां विस्मरणमिति ॥ ७३ ॥

अन्वय - दिग्विरते पञ्च अत्याशाः मन्यन्ते। के ते पञ्च ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिः च अवधीनां विस्मरणम्।

निरुक्ति--ऊर्ध्वश्च अधस्ताच्च तिर्यङ् च इति ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यञ्च तेषां व्यतिपाताः ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः। क्षेत्राणां वृद्धि क्षेत्रवृद्धि ॥ ७३ ॥

अर्थ – दिग्व्रतके पाच अतीचार आचार्योंने माने हैं, जो कि ऊपरकी मर्यादाका उल्लघन करना १, नीचेकी मर्यादाका उल्लघन करना २, चारों तरफकी मर्यादाका उल्लघन करना ३, क्षेत्रको बढा लेना ४ तथा मर्यादाओं-को भूल जाना ५ ॥ ७३ ॥

१–अतिशयिता आशा तृष्णा इति अत्याशा। अथवा अधिकोकृता आशा दिशा येषु ते अत्याशा। द्व्यसकारपाठे तु अत्यस्यन्ते क्षिप्यन्ते अत्यासा अति पूर्वक असु क्षेपणे धो घञ अतीचारा इति यावत्। २–दिग्भ्यो रोकेभ्योऽस्ताद् दिग्देशकाले ५।३।२७ अनेन अवर शब्दात् "अस्तात्" त्य –पुन "अस्ताति" ५।३।४९ इति च अधादेश। तिर अञ्चति प्राप्नोतीति

अनर्थदण्डव्रतका लक्षण कहते हैं—

अभ्यन्तरं दिगवधे रपार्थकेभ्य सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्ड व्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अनर्थदण्डव्रत विदुः जानन्ति । के ते । 'व्रतधराग्रण्य' व्रतधराणा यतीना मध्ये अग्रण्य, प्रधानभूता, तीर्थंकरदेवादय । विरमण व्यावृत्ति । केभ्य ? सपापयोगेभ्य पापेन सह योग सम्बन्ध पापयोग तेन सह वर्तमानेभ्य पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः । किं विशिष्टेभ्य॰ ? अपार्थकेभ्य निष्प्रयोजनेभ्य । कथ तेभ्यो विरमण ? अभ्यन्तर दिगवधे दिगवधेरभ्यन्तर यथा भवत्येव तेभ्यो विरमणम् । अत एव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः। तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणम् अनर्थ-दण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणम् ।

अन्वय —व्रतधराग्रण्य दिगवधे अभ्यन्तरम् अपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्य, विरमणम् अनर्थदण्डव्रत विदु ।

निरुक्ति —दिशाम् अवधि दिगवधि तस्य । व्रतानि धरन्ति इति व्रतधरा, व्रतधरेषु अग्रण्य व्रतधराग्रण्य । पापयोगेन सह

१–अन्तरम् अभि मुख्यमिति अभ्यन्तरम् "लक्षणेनाभिमुख्ये-ऽभि प्रतो" २।१।१४ इति हस , मध्ये इत्यर्थ । २–प्रत्यग्रपाद् नि प्र'षादयोगत" ११३१८४ इत्यादिना सः "ततो नम्रोर्थात्" ४।३।१६१ इति कप्त्य । ३–"अघमहश्च दुरित पाप्मा पाप च किल्विषम्। वृजिन कलिल्मेनो दुष्कृत तज्जयो जिन" इति

वर्तन्ते इति सापायोगास्तेभ्य । अपगत अर्थो येभ्यः ते अपार्थकास्तेभ्य ॥ ७४ ॥

अर्थ-व्रतधारियोंमें जो अग्रणी तीर्थंकर देव हैं वे अवधिके भीतर भी जो पापवाले निरर्थक योग साधन होते हैं उनसे विरक्त होना उसको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह—

अनर्थदण्डके भेद और नाम बतलाते हैं।

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

दण्डा इव दण्डा अशुभमनोवाक्काया परपीडाकरत्वात्, तान् धरन्ति अदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः । कान् ? अनर्थदण्डान् । कति ? पञ्च । कथमित्याह पापेत्यादि । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पञ्चमी ।।७५॥

अन्वय –अदण्डधरा अनर्थदण्डान् पञ्च प्राहुः । के ते पञ्च ? पापोपदेशहिंसादानाऽपध्यानदुःश्रुती च प्रमादचर्याम् ।

निरुक्ति -न दण्ड धरन्ति ते अदण्डधरा । न अर्थो येभ्यः ते अनर्थाः । अनर्थाश्च ते दण्डाश्च अनर्थदण्डाः, तान् अनर्थदण्डान् । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च इति पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतयः ताः ॥७५॥

१-अत्र "कर्मणीप्" १।४।१ अनेन कर्मकारके इप् बहुवचने "शसि" ५।३।१०७ दीर्घम्।

अथ - गणधरदेव अनर्थदण्डोंको पांच सख्यामें बताते हैं। कौनमे वे पाच हैं ? पापोपदेश, अपध्यान, हिंसादान दु:श्रुति और प्रमादचर्या ॥ ७५ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूप प्ररूपयन्नाह—

पापोदेशका लक्षण कहते हैं—

तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसङ्ग प्रसवः स्मर्त्तव्य पापउपदेश ॥७६॥

स्मर्तव्यो ज्ञातव्यः। क ? पाप उपदेश पाप पापोपार्जनहेतुरुपदेश । कथ भूत ? 'कथाप्रसग' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसग पुन: पुन: प्रवृत्ति । किं विशिष्ट: ? प्रसव प्रसूत इति प्रभव उत्पादक । केषामित्याह—'तिर्यगित्यादि' तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादि, वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवध, आरम्भश्च कृष्यादि, प्रलम्भन च वचन तानि आदिर्येषा मनुष्यक्लेशादीना तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ७६ ॥

१–अनर्थदण्ड पचधाऽपध्यानपापोदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् ॥ क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भकादिषु पापसयुत वचन पापोपदेश ॥ तद्यथा–अस्मिन् देशे दासा दास्यः सुलभास्तानमु देश नीत्वा विक्रयकृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशा–

अन्वय.—तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीना प्रसव। कथाप्रसग पापउपदेश स्मर्तव्य ॥

निरुक्ति —तिरश्चाम् क्लेशो यस्यां सा तिर्यक्क्लेशा तिर्यक्क्लेशा चासौ (वणिज्या) वणिज्या च इति तिर्यक्क्लेशवणिज्या। तिर्यक्क्लेशवणिज्या च हिंसा च आरम्भश्च प्रलम्भन चेति तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादयः तेषाम् । कथानाम् प्रसग कथाप्रसग । पाप विद्यते यस्मिन् स पाप ॥ ७६ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंको कष्ट (नाश) होवे ऐसा व्यापार जिनसे हिंसा बढे जिनसे आरम्भ बढे तथा लोगोंको ठगा

कुलिकादिभ्यो मृग-वराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचन वधकोपदेश । आरम्भकेभ्य कृषीवलादिभ्य क्षित्युदक-ज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेश । अमुकदेशे अनया रीत्या जना वञ्च्यन्ते अत्र चैवविधो दम्भो विधेय, स्त्रिय एव प्रताड्यन्ते इति प्रश्रयन निरुच्यन्ते पुस्तकचित्रादय प्रलम्भनोपदेश । इत्येव प्रकार पापसयुत वचन पापोपदेश ।

१—'प्रसव कथाप्रसग' इत्यादि पाठ । प्रसव इति पृथक् पदम्। २-पापानि विद्यन्ते यस्य यस्मिन् वा स पाप । अोऽभ्रादिभ्य ४।१।६८ इति अत्य । व्यस्तपदम्। ननु उपदेशः इति पदेन सह "वा" १।३।६ इति सूत्रेण मविधे विकल्प स्याद्वा न कृत (म) समास ।

जाय ऐसी बातोंका कथाओंमें (व्याख्यानोंमें लेखोंमें) प्रसगका लाना प्रस्तावोंका करना) सो पापोदेश अनर्थ दण्ड जानना ॥ ७६ ॥

अथ हिंसादानं किमित्याह—

हिंसादान अनर्थदण्डका लक्षण कहते हैं।

परशुकृपाणखनित्र ज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खला-
दीनाम्।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति'। के ते? 'बुधा' गणधरदेवादयः किं तत्? 'दानं'। यत्केषां? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां। केषां तत्कारणानामित्याह—'परशु'इत्यादि। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च छुरिकालकुटादीनि शृंगि च विषसामान्य शृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ७७ ॥

अन्वय —वधहेतूनां परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलादीनां, बुधाः हिंसादानं ब्रुवन्ति।

---

१ विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते॥ परेषां जयपराजयवधाऽऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं॥ हिंसारागादिप्रवर्धि तदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते॥

निरुक्ति—परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनं च आयुधं च शृङ्गी च शृङ्खला च इति परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलाः । ता आदयो येषां ते, तेषां तथा । वधस्य हेतवः इति वधहेतवः तेषाम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—मनुष्य तथा तिर्यंचोंकी हिंसाके साधक (कारण) परशु (फरसा) कृपाण, खनित्र (कुदारी फावडा) ज्वलनायुध (बन्दूक तोप बम्बके गोले) अथवा ज्वलन (अग्नि) आयुध (अस्त्र शस्त्र) शृङ्गी (विष) शृङ्खला (बेडी) इत्यादिक हिंसाके साधक उपकरणोंके दानको बुद्धिमान आचार्य हिंसादान कहते हैं ॥ ७७ ॥

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

अपध्यान अनर्थदण्डका लक्षण बताते हैं।

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति । के ते ? 'विशदाः' विचक्षणाः । क्व ? 'जिनशासने' । किं तत् ? 'आध्यानं' चिन्तनं । कस्य ? 'वधबन्धच्छेदादेः' । कस्मात् ? 'द्वेषात्' । न केवलं द्वेषादपि तु रागाच्च अपध्यानं । कस्य ? 'परकलत्रादेः' ॥ ७८ ॥

१—खन्यते अवदार्यतेऽनेन इति खनित्रम् "ऊर्तिलूपूखनसहचर" ३।२।१८४ अनेन करणे इत्र त्य ।

अन्वय –जिनशासने विशदाः द्वेषात् च रागात् परकलत्रादेः बधबन्धच्छेदादे ध्यानम् अपध्यान शासति ॥

निरुक्ति –बधश्च बन्धश्च छेदश्च इति बधबन्धच्छेदा ते । आदौ यस्य ॥ बधबन्धच्छेदादि तस्य । परस्य अन्यस्य कलत्र पत्नी इति परकलत्रम् । तत् परकलत्रम् आदौ यस्य स परकल-त्रादि तस्य । जिनस्य शासन जिनशासनम्, तस्मिन् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जिनागममें कुशल विद्वान् एसे आचार्य, द्वेष से वा रागसे परस्त्री तथा परपुत्रादिकनका बन्ध मारण, छेदन आदि हो जावे ऐसे कुत्सित चिन्तवन करनेको-मन्त्र जपनेकोतन्त्र यन्त्र जपनको अपध्यान कहते हैं ॥७८॥

साम्प्रत दु श्रुतिस्वरूप प्ररूपयन्नाह–

दु श्रुति अनर्थदण्डका लक्षण बताते है।

आरम्भसगसाहस मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै ।
चेत कलुषयतां श्रुति रवधीना दु श्रुतिर्भवति७९

१-शासु अनुशिष्टौ इति अदादेर्धौ स्य । 'अक्षादि' ७।३।१० इति स्य सत्त्वात् 'ध्याहृत ५।१।८ अनेन भस्य अत् आदेश । शासति उपदिशन्ति इत्यर्थ ।

२-"भार्या जाया जनि कुल्या कलत्र गेहिनी गृहम् । महिला मानिनी पत्नी तथा दारा पुरन्ध्रिय " इति धनञ्जय । कलत्रमिति शब्द पत्नीवाचकोऽपि नपु सके वर्तते ।

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ 'श्रुतिः श्रवणं। केषां 'अवधीनां' शास्त्राणां। किं कुर्वतां 'कलुषयतां मलिनयतां। किं तत् 'चेतः' क्रोध मानमायालोभाविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरम्भेत्यादि' आरम्भश्च कृष्यादिः। सगश्च परिग्रहः। तयो प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते 'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते, रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरित्यादिग्रन्थाज्जायते, मदनश्च रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति, तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७६ ॥

अन्वय अवधीनां श्रुतिः दुःश्रुतिः भवति। कथंभूतानां अवधीनाम् आरम्भसगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः चेतः कलुषयताम्।

निरुक्ति आरम्भश्च सगश्च साहसश्च मिथ्यात्वं च द्वेषश्च रागश्च मदश्च मदनं च इति, तैः। दुष्टा च असौ श्रुतिः दुःश्रुतिः॥

१–अवधीयन्ते निरूप्यन्ते वस्तूनि अनयेति अवधयः शास्त्राणि तेषाम्।

२–कलुषं कुर्वन्तीति कलुषयन्ति 'मृदो ध्वार्थे णिज् बहुलम्' २।१।२८ इति णिच् 'तदन्ता धवः' २।१।४४ इति धु संज्ञा ततः शतृ न्यः पुनः 'नाशेषे' १।४।६८ अनेन आम् विभक्तौ।

३–श्रूयते अनयेति श्रुतिः "युम्स्त्रियां यज करणे" २।३।८२ अनेन करणकारके क्ति।

अर्थ—ऐसे शास्त्रोंके सुननेको दुःश्रुति, अनर्थदण्ड कहते हैं (कैसे हैं शास्त्र ?) जो आरम्भ सग साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मद और मदन (काम) इनके कथन कर चित्तको कलुषित करनेवाले हों ॥ ७९ ॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूप निरूपयन्नाह -

प्रमादचर्या अनर्थदण्डका लक्षण बताते हैं—

क्षितिसलिलदहनपवनाऽरम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं
सरणं सारणमपि च, प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।८०।

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति । काम् ? 'प्रमादचर्याम्' । किं तदि-त्याह 'क्षित्यादि । क्षितिश्च सलिल च दहनश्च पवनश्च तेषामा रम्भं क्षितिखनन सलिलप्रक्षेपण दहनप्रज्वालन पवनकरणलक्षणम् । किं विशिष्टं ? 'विफलं' निष्प्रयोजन । तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफल । न केवलमेतदेव किन्तु, 'सरणं' 'सारणमपि च' सरण स्वय निष्प्रयोजन पर्यटन, सारणमन्यस्य निष्प्रयोजन गमनप्रेरणम् ॥७८॥

अन्वय—आचार्या विफल क्षितिसलिलदहनपवनारम्भ प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्या विफल वनस्पतिच्छेद प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्या विफल सरण प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्या विफल सारण प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥

निरुक्ति क्षितिश्च सलिल च दहन च पवन च इति

१-प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसे-

क्षितिसलिलदहनपवनानि । तेषाम् आरम्भ इति क्षितिसलिलदहनपवनारम्भः तम् । प्रमादस्य चर्या प्रमादचर्या ताम् वनस्पतीनां छेद वनस्पतिच्छेद, तम् ॥ ८० ॥

अर्थ—आचार्य, निष्फल क्षिति आरम्भ, सलिलारम्भ, दहनारम्भ, पवनारम्भको प्रमादचर्या कहते हैं तथा व्यर्थ वनस्पतिके छेदनेको तथा निष्फल गमन करनेको निष्फल चलानेको प्रमादचर्या कहते हैं ॥ ८० ॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह,—

अनर्थदण्डव्रतके अतीचार कहते हैं

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्ड-
कृद्विरते ॥ ८१ ॥

व्यतीतयोऽतीचारा भवति । कस्य[१] अनर्थदण्डकृद्विरते अनर्थं निष्प्रयोजन दण्ड दोष कुर्वन्तीत्यनर्थदण्डकृत पापोपदेश द्य स्तेषां विरतिर्यस्य तस्य । कति[२] पञ्च । कथमित्याह कन्दर्पादि,

१–चरते इति चया चर गतिभक्षणयोः धातुः चरे २।१।१०७ इति य त्य । स्त्रीत्वे टाप् । अथवा चरसूर्दौ" २।३।६७ अत्र सूत्रे परौ इत्यस्य अनुवृत्तेरविवक्षितत्वात्ये य त्य ।

२–छे च ४।३।८६ इति तुगागमः, त्तो श्चुना श्चु ५।४।१२८ च तस्य चकारादेश ।

रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोग कन्दर्पः। प्रहासो भण्डिमारचन, भण्डिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्त कौत्कुच्य, धार्ष्ट्यप्राय बहुप्रलपित्व मौखर्य, यावनार्थेनोपभोगोपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्। एतानि चत्वारि असमीक्ष्याधिकरण पञ्चमम् असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणम् ॥८१॥

अन्वय — अनर्थदण्डकृद्विरते पञ्च व्यतीतय कथ्यन्ते। के ते पञ्च ? कन्दर्प कौत्कुच्य मौखर्यम् अतिप्रसाधन च असमीक्ष्य अधिकरणम्।

निरुक्ति —कम् [इति कि] कुत्सितो दर्प कन्दर्प । कुत्कुचस्य कर्म भावो वा कौत्कुच्यं मुखरस्य कर्म मौखर्य वाचालता। अनर्थो व्यर्था दण्डो दण्डन मिति अनर्थदण्ड । त करोति विदधातीति अनर्थदण्डकृत । अत्र 'क्विप्' २।२।७४ इति क्विप् तुग गमश्च। तस्माद्विरति त्यागो यस्य स अनर्थदण्डकृद्विरति तस्य तथा। न समीक्ष्य विचार्य इति असमीक्ष्य। अधिक करणम् अधिकरणम् अधिकार ॥ ८१ ॥

अर्थ—अनर्थदण्ड विरतिके पाच अतीचार कहे हैं। कौनसे हैं वे पाच ? कन्दर्प (रागकी प्रबलतासे प्रहास्य मिश्रित भड वचनोंका बोलना) १, कौत्कुच्य (हास्य और भड वचन सहित कायमे कुत्सित चेष्टा करना) २ मौखर्य (धीटतासे ज्यादा बकवाद करना) ३ अति-

रखना) ४ असमीक्ष्य अधिकरण (विना विचारे काम करना अथवा किसी वस्तुपर अधिकार कर लेना) ५ ॥ ८१ ॥

साम्प्रत भोगोपभोगपरिमाणलक्षण गुणव्रतमाख्यातुमाह—

भोगोपभोगपरिमाणव्रत गुणव्रतका लक्षण कहते हैं—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

भोगोपभोगपरिमाण' भवति । किं तत् ? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणन । केषाम् ? 'अक्षार्थाना' मिन्द्रियविषयाणा । कथम्भूताना मपि तेषा । अर्थवतामपि सुखादिलक्षणप्रयोजनसपादकानामपि अथवाऽर्थवतां सम्पन्नानामपि श्रावकाणाम् । तेषा परिसंख्यान किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृशानत्वकरणार्थम् । कासा ? 'रागरतीना' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतय आसक्तयस्तासाम् । कस्मिन् सति ? अवधौ नियमपरिमाणे ॥ ८२ ॥

अन्वय —अवधौ अपि अर्थवताम् अक्षार्थाना परिसंख्यान, भोगोपभोगपरिमाण भवति । कस्य सिद्धये ? रागरतीनां तनूकृतये ।

निरुक्ति —अक्षानाम् अर्था अक्षार्था तेषा अक्षार्थानाम् । भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ, तयोर्भोगोपभोगयो परिमाणम् इति भोगोपभोगपरिमाणम् । अर्थ· प्रयोजन विद्यते येषु ते अर्थवन्त, तेषा
। रागेण रतय इति रागरतय तासा रागरतीनाम् । अतनु

तनु- क्रियते इति तनूकृति । 'कृभ्वस्तियोगेऽनत्तवे सम्पत्तरि च्चि' ४।२।६७ इति च्चि । तस्य च खम् । "दीर्घच्च्यकृद्गे" ५।२।१४८ इति दीर्घत्वम् । तस्यै तथा सूक्ष्मकरणाय इत्यर्थ ॥ ८२ ॥

अर्थ–दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी प्रयोजन भूत इन्द्रियोंके विषयोंकी मर्यादा कर लेना–गिनती कर लेना सो भोगोपभोग परिमाण व्रत है । किसकी सिद्धिके लिये ? विषयोंमें रागभावका उद्रेक होनेसे जो अधिक आसक्ति होती है उसको घटानेके लिये–कम करनेके लिये ॥८२॥

अथ को भोग कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशङ्क्याह—

भोग वस्तु क्या है ? उपभोग वस्तु क्या है ? जिनका परिमाण किया जावे ? इसका उत्तर कहते हैं ।

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य.
उपभोगोऽशनवसन प्रभृति पाञ्चेन्द्रियो विषय ।

'पञ्चेन्द्रियाणामयं' पाञ्चेन्द्रियः विषय । 'भुक्त्वा परिहातव्य'-स्त्याज्य' स भोगोऽशनपुष्पगन्धविलेपनप्रभृति । य पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य स उपभोगो वसनाभरणप्रभृति, वसन वस्त्रम् ॥

अन्वय –य पाञ्चेन्द्रिय विषय भुक्त्वा परिहातव्यः स भोग भवति । तथा यः पाञ्चेन्द्रियविषय भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः भवति स. उपभोग भवति । यथा अशनवसनप्रभृति ॥

१– –ओहाक् त्यागे घो भुजो रक्षाशनयो, आत्मनाम् "तव्यानीयौ" ३।१।९०२ इति तव्य ।

निरुक्ति—परिहर्तुं योग्य परिहर्तव्य । भोक्तुं योग्य भोक्तव्य । अशनं च वसनं च अशनवसने । अशनवसने प्रभृति यस्य सः अशनवसनप्रभृति । पञ्चेन्द्रियाणाम् अयं पाञ्चेन्द्रियः ॥

अर्थ—जो पांचो इन्द्रियोंके विषयोंको भोगकर छोड़ दिये जाय पुन वही वस्तु दूसरी बार भोगी न जाय सो भोग है । और जो पांचो इन्द्रियोंके विषय भोगकर वही वस्तु बार बार भोगनेमें आवे सो उपभोग हैं । जैसे अन्न पान आदि भोग और वस्त्र भूषण आदि उपभोग हैं ॥ ८३ ॥

मद्यादिभोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह

अणुव्रतियोंको जो भोग वस्तु यावज्जीव ही त्यागने योग्य है उनके नाम बताते हैं—

१—भोगसंख्यानं पञ्चविधं 'त्रसघातप्रमादबहुवधाऽनिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ।

मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा । २—मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयम् । ३—केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्य नन्तकायव्यपदेशार्हाणि च एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । ४—यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं । ५—न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमिताप्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुपसेव्यानां कार्यं । इति श्रीचामुण्डरायकृतचारित्रसारः ।

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः ८४

वर्जनीयम् । किं तत् ? 'क्षौद्र' मधु । तथा 'पिशित । किमर्थं,' 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थम् । तथा 'मद्य च वर्जनीय । किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाऽभाव प्रमाद तस्य परिहृतये परिहरणार्थं । कैरेतद्वर्जनीयम् ? शरणमुपयातैः शरणमुपगतैः । कौ ? जिनचरणौ, आवर्णकस्वरूपाश्रयिभिरित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अन्वय –जिनचरणौ शरणम् उपयातैः पुरुषैः त्रसहतिपरिहरणार्थम् क्षौद्रं पिशित वर्जनीयम् । च प्रमादपरिहृतये मद्य वर्जनीयम् ।

निरुक्ति त्रसाना हतेः परिहरणमिति त्रसहतिपरिहरणम् । त्रसहतिपरिहरणाय इति त्रसहतिपरिहरणार्थम् । प्रमादस्य परिहृति प्रमादपरिहृति तस्यै प्रमादपरिहृतये । जिनस्य चरणौ जिनचरणौ ॥ ८४ ॥

१–'व्यस्य वा कर्तरि" १।३।८४ "कर्तृ करणे" १।४।३२ सूत्रेण करणकारके भा (तृतीया) विभक्ती ।

२–अन्यपदार्थोऽदिभि १।३।१ इति षसः समासः ।

३–"तादर्थ्ये" १।४।२५ इत्यप् विभक्ती ।

४–उप पूर्वक या प्रापणे धेः 'द्वि' कर्मकात् धिगत्यर्थोऽक्य २।४।५५ अनेन कर्तरि त । अतः कर्मकारके द्वितीया द्विवचनम् शरणमित्यपि कर्म

अर्थ—जिनेश्वर भगवानके दोनों चरणोंका शरण लेने वाले श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसाका परित्याग करनेके लिये मधु और मांसको छोड़, और प्रमाद दूर करनेके लिये मद्य पीना छोड़े ॥ ८४ ॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह—

तथा इनको भी यावज्जीव त्यागे ऐसा बताते हैं—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि नवनीतनिम्बकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम् ।८५।

अवहेयम् त्याज्य । किं तत् ? 'मूलकं' । तथा 'शृङ्गवेराणि'-आर्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? आर्द्राणि, अशुष्कानि (अपक्वानि) तथा नवनीतनिम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां, तेषां, कैतकं केतक्या इदं कैतकम् गुधरा इत्येव, इत्यादि सर्वमवहेयम् कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्' अल्पं फलं यस्यासावल्पफलं, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ विघातश्च तस्मात् ॥ ८५ ॥

अन्वय—अल्पफलबहुविघातात् मूलकं च आर्द्राणि शृङ्गवेराणि च नवनीतनिम्बकुसुमम् अपि कैतकम् इति एवं अवहेयम् ।

निरुक्ति—अल्पं फलं यस्मिन् यस्माद्वा स अल्पफलः । बहूनां विघातः यत्र स बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ बहुविघातः इति

१—'आर्द्रके शृङ्गवेरं स्यात्' इत्यमरः । शृङ्गमिव वेरं शरीरमस्य

अल्पफलबहुविघातं तस्मात् अल्पफलं बहुविघातं च। नवनीतं च निम्बकुसुमं च केतकी, समाहारे नवनीतनिम्बकुसुमम् ॥८५॥

अर्थ—जिसमें लाभ थोड़ा और बहुत प्राणियोंका घात होवे ऐसे मूली तथा गीले अदरकका और मक्खन नीमके फूलोंको तथा केवड़े आदिके फूलोंका त्याग करे, न खावे ॥८५॥

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह—

प्रासुक भी है तो भी इनका त्याग करे।

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्,यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति

'यदनिष्टम्' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' तत्र निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। न केवलमेतदेव व्रतयेदपि तु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्' यच्च यदपि गोमूत्र-करेणु-दुग्ध-शङ्खचूर्ण-ताम्बूलोद्गाल लाला मूत्र पुरीष श्लेष्मादिकमनुपसेव्य-प्रासुकमपि शिष्टलोकानां स्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्या-

---

१ आर्द्रं इत्यस्य नामनी। आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च इत्यमरः, आर्द्राणि क्लिन्नानि। आर्द्रा अदरक। यहांपर शृङ्गवेर अदरकका नाम कहा है और उसका आर्द्र विशेषण है इससे गीले (हरे) अदरकका त्याग कराया है। उपलक्षण से गीली हल्दी आदि भी ग्राह्य हैं।

त् । कुत एतदित्याह—'अभिसन्धिकृतादि' अनिष्टया अनुपसेव्य- तया त्र व्यावृत्तेर्योग्याद्विषयादभिसन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या वि- रतिः सा यतो व्रतं भवति ॥ ८६ ॥

अन्वय—यत् अनिष्टं तत् व्रतयेत् यत् च अनुपसेव्यं तत् अपि जह्यात् योग्यात् विषयात् अभिसन्धिकृता विरतिः व्रतं भवति ॥ ८६ ॥

निरुक्ति—न इष्टं अनिष्टं। न उपसेव्यं अनुपसेव्यं। अभिसन्धा अभिसन्धानेन अभिप्रायेण उद्देश्येन कृता अभिसन्धिकृता॥

अर्थ—जो वस्तु अपनेको अनिष्ट अप्रिय है रोगादिक बढ़ानेवाली है उसको त्याग देना चाहिये। जो अनुप- सेव्य है वह भी छोड़ना चाहिये क्योंकि योग्य विषयोंका अभिप्राय पूर्वक त्याग करना सो व्रत है ॥८६॥

तत्र द्विधा भिद्यत इति—

यह भोगोपभोग संहार दो प्रकारका है ऐसा बताते हैं—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ।

—भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य । द्वेधा विहितौ द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ ।

१—मोहात्क स्याले हात्रिः ओ "[illegible] वं प्रत्ययान्तेभ्ये लिङ्" ४।३।१५२ इति (भिदो लिङ्)। "[illegible] ।" ४।३।१२ इति [illegible] [illegible]

कौ ? नियमो यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियमः, कश्च यम इत्याह--नियम परिमितकालो वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः । यमश्च यावज्जीवं ध्रियते ।

अन्वय भोगोपभोगसंहारे नियमे च यमे द्वेधा विहितौ, तत्र यः परिमितकालं ध्रियते स नियम । यश्च यावज्जीवं ध्रियते, सः यम भवति ॥ ८७ ॥

निरुक्ति --भोगश्च उपभोगश्च इति भोगोपभोगौ भोगोपभोगयो संहार इति भोगोपभोगसंहारः तस्मिन् भोगोपभोगसंहारे । परिमितः संख्यातः कालो यस्य सः परिमितकालः । जीवनपर्यन्तम् इति यावत् जीवतीति वा यावज्जीवम् ॥८७॥

अर्थ--भोग और उपभोगके न्यून करनेके लिये (निमित्त) यम और नियम ऐसी दो विधि होती हैं। तिनमें जो परिमित कालकी विधि है वह नियम है और यावज्जीवकी विधि है वह यम है ॥ ८७ ॥

१-नियच्छति उपरमति अनेन, नियमन वा नियम । यम उपरमे निपूर्वात् "यम समित्युपे च" । ३।३।६६ इति अप् त्यः ।

२-तथैव यच्छति उपरमति अनेन यमनं वा यमः ।

३-यत्परिमाणमस्य यावान् "यत्तदेत" ४।३।२०६ इति मात्रार्थे वतु प्रत्ययः । यावान् जीवतीति यावज्जीवम् "यावति जीविकृषः" ४।४।१४ इति णम् त्यः । तस्य लिपिसंज्ञा ।

४-अत्र हेतौ तद्युक्ते ३।४।३६ इति सप्तमी विभक्तिः ।

तत्र परिमितकाले तत्सहार्यलक्षणनियमं दर्शयन्नाह—

नियमकी विधि बताते हैं—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा
इति कालपरिच्छित्त्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।

युगलं । नियमो भवेत् । किंतत् ? प्रत्याख्यानं । कया ? कालपरिच्छित्त्या । तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह—'अद्येत्यादि'. अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानम् तथा दिवेति रजनी रात्रिरिति वा । पक्ष इति वा । मास इति वा । ऋतुरिति वा मासद्वय । अयनमिति वा षण्मासा । इत्येवं कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानम् । केष्वित्याह—'भोजनेत्यादि' भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुङ्कुमादिविलेपनम् । उपलक्षणमेतत् अञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेषणं । दोषापनयनार्थं तेनैवाभ्यङ्गरागो, निरस्तः । कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु । तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं, भूषणं च कटकादि, मन्मथश्च कामसेवा, संगीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं, गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितम् । तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं स इति व्याख्यातम् ॥ ८८-८९ ॥

अन्वय.—इति कालपरिच्छित्या भोजनवाहनशयनस्नान-पवित्राङ्गरागकुसुमेषु ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु प्रत्या-ख्यान नियमः भवेत्। इतीति किम् ? अथ दिवा रजनी वा पक्ष मासः, तथा ऋतु वा अयनम्।

निरुक्ति भोजनं च वाहनं च शयनं च स्नानं च पवित्राङ्गरागश्च कुसुमं च इति भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमानि, तेषु तथा। ताम्बूलं च वसनं च भूषणं च मन्मथं च संगीतं च गीतं चेति ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतानि तेषु तथा ॥८९॥

अर्थ–इस प्रकार कालकी (समयोंकी) प्रमाण कर भोजन (भोज्य वस्तुओंका) १, वाहन (रथ घोड़ा पालकी आदि सवारी) २, शयन (खाट पलंग गद्दा तकिया तोषक रजाई आदि) ३, स्नान (गर्म जल या इतना जल–चौकी आदि साधन) ४, पवित्राङ्गराग (उबटना साबन तेल अतर फुलेल आदि सुगन्ध वस्तुओंका लगाना आदि) ५, कुसुम (पुष्पमाला सेहरा पहनना गुलदस्ताका ग्रहण करना आदि) ६, ताम्बूल (पान इलाइची जावित्री आदि सुगन्ध सुस्वादु वस्तुओंका जो भोजनके अनन्तर खाई जाती हैं) ७, वसन (वस्त्र धोती चादर रेशमी सूती तथा उपानत् पाग टोपी अंगरखा आदि शिरोपाव) ८, भूषण (पगड़ी बाजू कंकण कुण्डल मुकुट हार मुद्रिका सुवर्णमयी वा रत्नजडित आदि) ९, मन्मथ (स्त्री भोग) १०, संगीत (नृत्य बाजा सहित रागोंका सुनना, नाटक देखना

दृश्योंका देखना आदि) ११, गीत (स्त्रियोंके गीत-वसन्त राग धारमासा आदि) १२, इनका प्रात्याख्यान (त्याग करना) सो भोगोपभोग नियम है। कौनसे कालोंमें प्रत्याख्यान करै? आजका दिनमें या रात्रिमें पक्षभरका (पन्द्रह दिनका) महिने दो महीनेका-वसन्त ऋतुका-सरद ऋतु आदि ऋतुओंका-उत्तरायण छमाहीका, दक्षिणायन छमाही का तथा वर्ष दो वर्ष आदि कालका। भावार्थ-घड़ी दो घड़ी आदि समयका प्रमाण कर इन भोजनादिक १२ भोग्य उपभोग्य चीजोंका त्यागना सो नियम है॥ ८८-८९॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह—

भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतीचार कहते हैं—

विषयविषतोऽनुपेक्षा-
नुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा-
व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥ ९०॥

भोगोपभोगपरिमाणस्य तस्य व्यतिक्रमा अतीचाराः पञ्च कथ्यन्ते। के ते इत्याह 'विषयेत्यादि' विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु, ततो (वा) ऽनुपेक्षा-उपेक्षात्यागस्तस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः न विषयवेदना प्रतीकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मा- ... पुनर्यत्सम्भाषणाऽऽलिङ्गनाद्यादरः सोऽत्यासक्ति-

जनकत्वादतीचारः । अनुस्मृतिर्विषयवेदनाप्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौन्दर्यसुखसाधनत्वादिनुस्मरणमत्यासक्तिहेतुत्वाददतीचारः । अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः । अतितृषा भाविभोगोपभोगादेरतिगृध्या प्राप्त्याकांक्षा । अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनुभवति तदात्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतीचारः ॥ १० ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

अन्वयः—आचार्यैः भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते । के ते पञ्च? विषयविषतः अनुपेक्षा, अनुस्मृतिः, अतिलौल्यम्, अतितृषाऽनुभवौ ।

निरुक्तिः—विषयः एव विषम् विषयविषं तस्मिन् वा तस्मात् विषयविषतः । न उपेक्षा अनुपेक्षा । भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ तयोः परिमा, इति भोगोपभोगपरिमा भोगोपभोगपरिमायाः व्यतिक्रमाः, इति भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः ॥

१ जिघत्सा पिपासायामिति "षिद्भिदादिभ्योऽङ् ३।३।१०१" अनेन अङ् प्रत्ययः, ततः टाप् । तृषा च अनुभवश्चेति तृषानुभवौ अतिशयितौ तृषानुभवौ इति तथा अति तृषा अत्यनुभव इति द्वौ । २–परिमिमीते परिमीयते वा अनेन चेति—परिपूर्वात् माङ्माने घो "घिञ्" २।३।४३ अनेन घिञ्प [illegible] । परिमा इति आकारान्त शब्दः ।

१ सामायिक २ प्रोषधोपवास ३ और वैयावृत्य ४ ॥९१॥

तत्र देशावकाशिकस्य प्रकृतलक्षणमाह–,

देशावकाशिक शिक्षा व्रतका लक्षण कहते हैं–

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां,प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२॥

देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात्। कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः। कस्य ? देशस्य। कथंभूतस्य ? विशालस्य बहो। केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादया। कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनम्। केषां ? अणुव्रतानाम् अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां श्रावकाणामित्यर्थः ॥९२॥

अन्वय —अणुव्रतानां प्रत्यहं कालपरिच्छेदनेन विशालस्य देशस्य प्रतिसंहारो देशावकाशिकं स्यात् ॥

निरुक्ति –देशस्य अवकाशः देशावकाशः अथवा देशश्च सौ अवकाशः देशावकाशः। देशावकाशे भवो देशावकाशिकम्। कालस्य परिच्छेदः कालपरिच्छेदः तेन। अहः अहः प्रति इति प्रत्यहम्। अणूनि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम् ॥

१—ठक् इस्य। २—'भि सुप् च १।३।१ इत्यादिना इसे' इते ध्याजाह' संप्रेप्ट ४।२।११५ इति सातत्स्य "देखेऽह "४।।१४७-अनेन दिवस कस्य अन अम्। पुन "ईप" १।४।१३२ अहन् शब्दस्य डे अमादेश। प्रत्यहं प्रतिदिनमित्यर्थः।"

अर्थ—अणुव्रती श्रावकोंको प्रतिदिन कालकी मर्यादा कर बड़े देशका सकोच करना (घटाना) सो देशावकाशिक शिक्षाव्रत है ॥ ९२ ॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह—

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके क्षेत्रकी मर्यादा बताते हैं—

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥

तपोवृद्धाः चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः सीम्नां स्मरन्ति 'मर्यादां' प्रतिपद्यन्ते । सीम्नामित्यत्र "स्मृत्यर्थदयेशां कर्म" इत्यनेन षष्ठी । केषां सीमाभूतानां ? 'गृहहारिग्रामाणां हारि'–कटक । तथा 'क्षेत्रनदी दावयोजनानां च' दावो वन । कस्यैतेषां सीमाभूतानां ? देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य ॥९३॥

अन्वय —तपोवृद्धाः गृहहारिग्रामाणां च क्षेत्रनदीदावयोजनानां देशावकाशिकस्य सीम्नां स्मरन्ति ॥

निरुक्ति —तपोभिः वृद्धाः तपोवृद्धाः । गृहं च हारी च ग्रामं च

१–'स्मृत्यर्थदयेशां कर्म' ।३।६६ इति कर्मकारके षष्ठी विभक्ती ।

२—हारि शब्द इकारान्त तथा इनन्त भी है । इसका अर्थ मनोहर दर्शनीय स्थान है । जहाँका ऊपर पृथ्वादि भोगनेमें पर्वत पवन आदि कोई भी वस्तु लोगमात्र या मनोहारी हो उस स्थानको हारि कहते हैं । तथा जहाँपर हृदक

इति गृहहारिग्रामा तेषाम्। क्षेत्र च नदी च दाव च योजन च इति क्षेत्रनदीदावयोजनानि तेषाम्।

अर्थ—गणधरदेवने गृह घर सेनाका पड़ाव (छावनी) ग्राम क्षेत्र नदी वन और योजन-इतने योजन दूर तक, इनको देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सीमा बताई है। स्मरण की है।

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह

देशावकाशिककी काल मर्यादाओंको कहते हैं—

संवत्सरमृतुमयनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहुः। प्राज्ञाः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह 'संवत्सरमित्यादि' संवत्सरं यावद्देतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यम् तथा ऋतुरयनं वा यावत्। तथा मास चतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्र यावत्।

अन्तरा भिन्न करते हैं अथवा जहां एक ही स्वामीके अनेक खेत की गोचरभूमि हो उनको हारि कहते हैं। आगरा प्रान्तमें जिसको हार कहते हैं। जैसे इस समय चौधरी हारमें है आगे हारको गई है इत्यादि वाक्योंमें हार शब्द बोला जाता है।

१—योजनप्रमाणं क्षेत्रं योजनम्। "योजनप्रमाणमस्येति योजनमात्रम्" (पुनः "उत्मात्रे" ३।४।२०२ इति मात्रट् तस्य लुप्। एतावद् योजनप्रमाणं क्षेत्रं पर्यन्तमित्यर्थः।

अन्वय –प्राज्ञा "सवत्सरम् ऋतु अयन मासचतुर्मासपक्षं च ऋक्ष देशावकाशिकस्य कालावधि प्राहु ॥ ९४ ॥

निरुक्ति –मासश्च चतुर्मासश्च पक्षश्च एषां समाहार मास-चतुर्मासपक्षम् । कालस्य अवधि कालावधिस्ताम् तथा ।

अर्थ–विद्वान् श्रुतज्ञानी, सवत (वर्ष दो वर्ष आदि) ऋतु (वसन्त हेमन्त आदि छह) अयन (उत्तरायण दक्षि-णायन दो, सूर्यगमन) मास (महिना) चतुर्मास (वर्षा-काल शीतकाल उष्णकाल) पक्ष (शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष) और ऋक्ष (नक्षत्र) इत्यादिक समयों को देशाव-काशिक शिक्षाव्रतकी काल मर्यादा कहते हैं ॥ ९४ ॥

एव देशावकाशिकव्रते कृते सति तत्र परत कि स्यादित्याह –
देशावकाशिक शिक्षाव्रतक होनेपर क्या फल होता है ?

१—प्रज्ञा बुद्धि' विद्यते येषु येषा वा ते प्राज्ञा 'प्रज्ञाश्रद्धार्चा वृत्तेण ' ४।१।१२ इति णत्व । अथवा प्रकृष्ट प्रकर्षेन वा जान न्तीति प्रज्ञ । 'गावाता ऽनिक' ७।१।१४० इति कत्व । पुनः प्रज्ञ एव प्राज्ञः "प्रज्ञादिभ्य श्चा" ५ अनेन स्वार्थे अण् प्रत्ययः केवलिन । –उडूनि भानि तारक्षं नक्षत्रमिति धनञ्जय । इस पूजमें पच्चीसयोजन क्षेत्रसे बाहर सवतक नहीं जाऊंगा अथवा कुम्भरराशिपर शनैश्चर ग्रह रहेगा । इस अपने नगरसे बाजारसे पर कोठासे परे तवतक … … परन्तु जबतक बाहरमा

**सीमान्तानां परत, स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।९५**

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि? महाव्रतानि। केन? देशावकाशिकेन च। न केवल दिग्विरत्यापि देशावकाशिकेनापि। कुत? 'स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात्' स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षण पञ्चपापानि च तेषा सम्यक् त्याग.। क्व? 'सीमान्तानां परत' देशावकाशिकव्रतस्य सीमभूता ये अन्ता धर्मा गृहादयः सवत्सरादिविशेषाः, तेषां वा अन्तः पर्यन्तास्तेषां परत परस्मिन् भागे।

अन्वय देशावकाशिकेन महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते। कस्मात् सीमान्तानां परैत स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात्।

निरुक्ति –सीम्नाम् अवधीनाम् अन्ता पर्यन्ता इति सीमान्ताः

१–देशावकाशो विद्यते अस्यासौ देशावकाशिक। "अतोऽनेकाच" ४।२।७६ इति ठत्र। तस्य इक आदेश तेन तथा। २–प्र पूर्वक 'साध संसिद्धौ' धोः कर्मणि लट् बहु वचने अन्यः पुरु "णे यक" ३।१।८० इति यक। प्रकर्षेण साध्यन्ते आचर्यन्ते इति प्रसाध्यन्ते–उपचर्यन्ते इत्यर्थः। ३–परस्मिन् क्षेत्रे परस्यां दिशायां वा परत "तसेः" ४।१।११५ इति तस।

विशेष–इनसे साक्षात् महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते? इसका उत्तर प्रत्याख्यानातनुत्वात् इस ७१ कारिकामें स्पष्ट बता चुके हैं वही उत्तर यहां समझना। इसी प्रकार अन्य सामायिकादि व्रतोंमें जानना।

तेषाम् । स्थूलानि च इतराणि च यानि पञ्चपापानि इति स्थूलेतर-पञ्चपापानि । तेषां सम्यक् इति स्थूलेतरपञ्चपापसन्त्यागः । तस्मात् ।

अर्थ—देशावकाशिक शिक्षाव्रती श्रावक (अपने अणु-व्रतोंको) महाव्रत सिद्ध कर लेते हैं क्योंकि देशावकाशिक शिक्षाव्रत की की हुई जो क्षेत्र सीमा तथा काल सीमा उनके परे (बाहरके क्षेत्रोंमें उतने कालतक) स्थूल तथा सूक्ष्म हिंसा आदि पांचों पापोंका परित्याग हो जाता है इससे।

इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह—

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके अतीचार बताते हैं।

प्रेषणशब्दानयनं, रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥

अत्ययाः अतीचाराः। पञ्च देशावकाशिकस्य देशविरतेः। पञ्च व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते इत्याह—'प्रेषणेत्यादि' मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृतदेशाद् बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खात्करणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकराणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ॥ ९६ ॥

अन्वय. देशावकाशिकस्य पञ्च अत्ययाः [illegible]

सर्वत्र मर्यादाके भीतर और बाहर मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे पाँचों पापोंका छोड़ना। किस तरहसे छोड़ना? समयके छूटने तक (प्रतिज्ञाके पूर्ण होने तक)।

'आसमयमुक्ति' अत्र य समयशब्द प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह —

"आसमयमुक्ति" इसमें कहा हुआ जो समय पद है उसका स्वरूप [अर्थ] बताते हैं—

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समय जानन्ति समयज्ञा ॥

समयज्ञा आगमज्ञा। समय जानन्ति। किं तत्? 'मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध। बन्धशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मूर्धरुहाणां केशानां बन्ध-बन्धकाल समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्ध च सोबन्ध बन्धमपि पर्यङ्कबन्धन चापि उपविष्टकायो सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशन वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समय जानन्ति ॥

-अन्वय.—समयज्ञा मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध समय जानन्ति। च पर्यङ्कबन्धन समय जानन्ति। अपि च स्थान अथवा उपवेशन समय जानन्ति॥

निरुक्ति—मूर्धरुहश्च मुष्टिश्च वासश्च इति मूर्धरुहमुष्टिवासांसि तेषां बन्धे इति। मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध तम् तथा। पर्यङ्कस्य बधन-

(१) बन्धे घञि वा ४।२।१६१। अनेन विकल्पविधानात् (सातस्याः) उप्।

मिति पर्यंकत्र रनम् । समय जानन्ति ते समयज्ञाः ॥

(१) "आतः कोऽनुपसर्गे क" ३ । २ । ३ । "दाणः" २ । २ । ५ इति सम्प्रदानस्मात् क स्यः । कालस्य ज्ञातार ।

विशेष–'सामयिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-सूक्ष्म सा-म्पराययथाख्यातमिति चारित्रम्' इस तत्त्वार्थसूत्रमें जो सामा यिक है वह चारित्र है जो महाव्रती अनगारोंके होता है। यहां जो सामयिक है वह शिक्षाव्रत है जो कि अणुव्रती गृहस्थोंके ही होता है। उसीका यहां वर्णन है। समय नाम कालका भी है समय मात्र भी जो मुष्टि-मुष्टि या विचार अध्ययन उच्चारण चिन्तनसे अपना हित किया जाय सो भी सामायिक है। गृहस्थ लोक प्रत्येक क्रियाके प्रारम्भमें अपने इष्टदेव तीर्थंकर अर्हंत परमात्माका नाम लेते हैं। तथा नमस्कार मन्त्र अथवा "णमो अरहंताणं" 'पार्श्वनाथाय नम' जय भगवानकी, हे वर्धमान स्वामी, श्री शान्तिनाथ स्वामी शान्ति करो। गोमटस्वामीकी जय इत्यादि अनेक प्रकारके जयकार नमस्कार आदि वाक्योंको बोलते हैं। पगडी टोपी दुपट्टा आदि मस्तकपर धारण करनेसे पहले जब शिरके बालों को सुधारते हैं बांधते हैं तब उपर्युक्त इष्टसाधक जयकार नमस्कारात्मक वाक्योंका स्मरण करते हैं वह भी सामायिक है ॥१॥ अंगडाई आनेपर जो भुजाओंको पसारते हैं तथा मुख नासिकासे प्रबल उच्छ्वास निश्वास लिया जाता है तब हाथकी मुष्टि स्वय (स्वभावसे) बंध जाती है उस समय भी इष्टदेवका नाम लेना चाहिये (लेते हैं) २। अब किसी पुरुषार्थको

अर्थ-आचार्योंने मूर्धरुहबंधन, मुष्टि बन्धन, वासो बन्धन इनको समय कहा है और पर्यंक बन्धनको समय

प्राप्तिके लिये वस्त्र पहनते हैं अथवा कपड़े बांधते हैं धोवती (अधोवस्त्र=अधोशरीरवस्त्र) बांधते हैं तब भी परमात्माका नाम लेते हैं (लेना चाहिये)। ३। पर्यङ्क नाम पलंग=पलिंगका नाम है 'मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इति अमरकोषसे, बन्धन अर्थ है सम्बन्ध होना। पलंगपर अपने शरीरका सम्बन्ध करना—लेटना। अर्थात् शयनके लिये जब पर्यङ्क (पलंग) पर शय्या करे (करते हैं) तब भी परमात्माका नाम लेवे (लेते हैं)। ४। चलते चलते सवारी खड़ी हो या स्वयं खड़ा हो तब भी इष्टदेवका नाम उच्चारण करे (करते हैं)। ५। जब किसी आसनपर या कुर्सी चौकी पट्टा या भूमि आदिपर बैठे-विश्राम करे बैठो=विश्राम करो, उस समय भी श्रीवर्धमानस्वामीकी जय आदि इष्ट वाक्योंका उच्चारण करो। ६। इसी प्रकार छींक आवे, जम्भा (जमाई) आवे तब भी अर्हन्तकी जय इत्यादि इष्ट पदोंको बोले (बोलते हैं) इत्यादि अनेक सामयिकके समय हैं और ये सबसे छोटे हैं। प्रायः सब ही धर्मावलम्बी अपने अपने इष्टका स्मरण और नाम लेते हैं। ये सामायिक शिक्षाव्रत करनेके अवसर (समय) हैं।

समय शब्दका अर्थ अवसर भी है यथा—समय शपथे भाषापदे कालसंविदोः। सिद्धान्ताचारसंकेतनियमावसरेषु च ॥ क्रियाधिकारे निर्देशे च। इति रभसः ॥

१ तथा भाषामें भी समय शब्द अवसर अर्थमें आता है। जैसे

कहा है। स्थानको [खड़े होनेको] तथा उपवेशनको [बैठनको] भी समय कहा है ॥ ९८ ॥

एवं विधे समये भवत् यत्सामायिकं पञ्चप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिरूपं तस्य उत्तरोत्तरां वृद्धिं कर्तव्येत्याह —

ऊपर बताये हुये समयोंमें कहा गया जो सामायिक उसको तबतक बढ़ाता रहे जबतक पूर्णतासे पांचों प्रकारके पापोंका त्याग न हो जावे। उस सामायिककी उन्नति वृद्धि कैसे क्षेत्रमें होती है ऐसा बताते हैं—

एकान्ते सामयिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।९९।

'परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं तत्? सामायिकं। क्व? एकान्ते

श्रीलालजीको बोलनेका समय मिलना चाहिये। अवसर मिलना चाहिये ऐसा अर्थ होता है। उसको बैठनेका समय (अवसर) मिला इत्यादि। उसी प्रकार यहां मुख्यरूपसे आदि सामायिक शिक्षाव्रतके अवसर हैं जैसे जिनदत्त मुनिवत्के समय उस शिक्षाव्रत करता है अर्थात् जिनदत्तका मुनिवत्स सा सामायिक शिक्षाव्रत करनेका अवसर है इत्यादि। यह स्वरूप सामायिक है। आगे आगे इस समयको इस इस प्रकार बढ़ाते देखा सत्याकी कारिकाओंमें देवय भगवान समन

सीपशुपण्डनिवर्जिते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतार-हिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थ । इत्थंभूते 'एकान्ते' । क्व ? वनेषु अटवीषु वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद् गिरिगह्वरादिपरिग्रहः । केन चेतव्य ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अवि-क्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नाचासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९९॥

अन्वयः—श्रावकेन प्रसन्नधिया वनेषु च वास्तुषु अपि च चैत्यालयेषु निर्व्याक्षेपे एकान्ते सामयिकं परिचेतव्यम् ।

निरुक्तिः-विशेष आक्षेप निन्दा उपद्रवो वा व्याक्षेपः । निर्गतः व्याक्षेपो यस्मादिति निर्व्याक्षेप । तस्मिन् तथा । चैत्यानां जिनबिम्बानामालय आयतनम् चैत्यालय । परित चेतु योग्य परिचेतव्य "परिपूर्वकचिञ् चयने धो ? तव्यानीयौ ३।१।१०२। इति धर्मणि तव्य स । वर्धनीयम् उन्नेयमित्यर्थ ।

अर्थ—श्रावक प्रसन्न बुद्धिवाला होता हुआ वनोंमें गृहमें अथवा चैत्यालयमें जहा निरुपद्रव एकान्त स्थान हो वहां सामायिकको बढ़ावे ॥ ९९ ॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

कैसे कालमें सामायिक वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? 'सामयिकं' । कस्यां सत्यां विनिवृ-

स्याम्। कस्मात् ? 'व्यापारवैमनस्यात्' व्यापार०—काय।दिचेष्टा, वैमनस्य मनोऽप्रसन्ना चित्तकालुष्य वा तस्मादिनिवृत्तमपि सतां 'अन्तरात्मविनिवृत्त्या कृत्वा तदध्यीयात् ? अन्तरात्मनो विकल्पस्य विशेषेण निवृत्या। कस्मिन् सति तस्यां तदध्यायात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा।

अन्वय —श्रावक व्यापारवैमनस्यात् विनिवृत्याम अन्तरात्मविनिवृत्या उपवासे वा एकभुक्ते सामयिक बध्नीयात्॥

निरुक्ति —व्यापारश्च वैमनस्य च अनयो समाहार व्यापारवैमनस्यम्। तस्मात्। अन्तरात्मे विनिवृत्ति इति अन्तरात्मविनिवृत्तिः

अर्थ—श्रावक शरीर आदिकोंकी चेष्टा और मनकी

१—राग द्वेष काम क्रोध आदि औदयिक भाव जीवमें ही होते हैं इसीलिये इनको भगवान उमास्वामि आचार्यने मोक्षशास्त्रमें "औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च॥१॥ अध्याय॥२॥ सूत्रमें स्वतत्त्व पदसे कहा है और ये कषाय भाव स्वजनीय हैं इनके त्यागे विना 'धर्म' नहीं होता तथा ये क्रोधादिक पर्यायें अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं हैं; आत्मामें ही होते हैं इसीसे इनको "अन्तरात्म" कहा है। अथवा ये अन्तर स्वरूप हैं इससे ये अन्तरंग भाव कहलाते हैं। अर्थात क्रोध मान माया काम और निदान भावोंकी निवृत्तिके निमित्त सामायिकको बढावे। अथवा इन अन्तरात्म भावोंकी निवृत्तिके साथ ही सामायिकको बढावे अर्थात् अन्तरंगिक भावोंको घटावे और आत्मीक भावोंको बढावे,यही ००

व्यग्रताको दूर करनेपर अन्तरात्मा सम्बन्धी विकल्पोंको दूर कर उपवासके दिन तथा प्रोषधके दिन सामायिकको बढावे ॥ १०० ॥

इत्थं भूत तर्हि कदाचित्परिचेतव्यम् यथा कर्तव्यत्र इ —

ऐसे सामायिकको प्रति दिन भी यथायोग्य करे

सामयिक प्रतिदिवस, यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपञ्चकपरिपूरण कारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

'चेतव्य' वृद्धि नेतव्य । किं ? सामयिकं । कथं ? 'प्रतिदिवसमपि' न पुन कदाचित् पर्वदिवसे एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव । कथंभूतेन ? 'अनलसेना'ऽऽलस्य रहितेन उद्यतेनेत्यर्थ । तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा । कुतस्तदित्थं परिचेतव्य ? 'व्रतपञ्चकपरिपूरणकारण' यत. व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पञ्चकं तस्य परिपूरणं परिपूर्णत्व महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्व प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणम् ॥१०१॥

अन्वय —अनलसेन अवधानयुक्तेन श्रावकेन प्रतिदिवस यथावत् सामयिकं चेतव्यम् । कथंभूत सामयिकम् ? व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणम् ।

निरुक्ति —दिवसं दिवसं प्रति इति प्रतिदिवसम् । नास्ति अलसो

१-"लक्षणेनाभिमुख्येऽभिमती" —२।१।१४ इति सूत्र ।

यस्य यस्मिन् वा अनलस तेन । अवधानेन युक्त स अवधानयुक्त तेन । व्रतानां पञ्चकं[१] व्रतपञ्चकम् । व्रतपञ्चकस्य परिपूर्णमिति व्रतपञ्चकपरिपूरणम् । व्रतपञ्चकपरिपूरणे कारणमिति व्रतपञ्चक-परिपूरणकारणम् ॥

अर्थ—आलस रहित ऐसा श्रावक सावधान सयुक्त होता हुआ प्रति दिन यथायोग्य सामायिकको करे। वैसा है यह सामयिक? पाचो व्रतोंको पूर्ण करनेका साधन (उपाय) है ॥ १०१ ॥

एतदेव समर्थयमान प्राह

सामायिक शिक्षाव्रती मनको विषयोंसे रोकता हुवा महाव्रतोंमें सामर्थ्य पदा लेता है, ऐसा बताते हैं—

सामयिके सारम्भा परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्

'सामयिके' सामायिकावस्थायां । 'नैव सन्ति' न विद्यन्ते । के? 'परिग्रहा' सङ्गा । कथम्भूता? 'सारम्भा' कृष्याद्यारम्भसहिताः । कति? सर्वेऽपि "बाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपा" वा । यत एव ततो याति प्रतिपद्यते । क? यतिभाव यतित्व । कोऽसौ?

१—पञ्च व्रता अस्येति पञ्चक । "तदस्यास्त्यस्मिन्निति" ५।१।६६ इति कप्रत्यय । पञ्च परिमाणमस्य समूहस्येति वा पञ्चक "स्वे सख- ... अनेन क ।

गृही श्रावक । कदा ? सामायिकावस्थायां । क इव ? "चेलोपसृष्ट-मुनिरिव" चेलेन वस्त्रेण उपसृष्ट उपसर्गवशाद्वेष्टितः ॥ यासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः — श्रावकस्य सामयिके सारम्भाः सर्वेऽपि परिग्रहा नैव सन्ति तदा ॥ गृही चेलोपसृष्टमुनि इव यतिभावं याति ।

निरुक्तिः—आरम्भैः सहितास्ते सारम्भा । चेलेन उपसृष्ट उपसर्गो यस्य स चेलोपसृष्टः, चेलोपसृष्टश्चासौ मुनिरिति चेलोपसृष्टमुनिः । यते भाव यतिभावः स तथा । समताय हित सामायिकम्, तस्मिन् सामयिके ॥ १०२ ॥

१–उपसि पूर्वेन "सृजीड विसर्गे" इति धोः "स २।२।१०० इति क । प्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज च्छशां ष ८।२।७ इति जस्य ष । ष्टुना ष्टु ८।४।४१ इति तस्य टः ॥ २–यहां अर्थ्योक्षालकारसे शिष्योंको समझाया जाता है, अणुव्रती श्रावक वस्त्र सहित होता है कौपीनसे लेकर अनेक वस्त्र धारण करता है गृहस्थ कदाचित भी वस्त्ररहित बिल्कुल नग्न नहीं होता, इससे सामायिक करते समय नियमित–परिमित वस्त्र धारण करता हुआ उनसे ममता नहीं रखता, आत्महितके लिये अपनी गर्हा निन्दा करता हुवा अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु जिनवाणी रत्नत्रय धर्म जिन प्रतिमा जिनालय इन देवोंके स्वरूपको विचारै है ध्यावे हैं भावना करै है । उस समय कृष्यादिक व्यापार, भोग उपभोग तथा अन्य समस्त प्रकारके आरम्भोंसे तथा

अर्थ—श्रावकोंके पास सामयिकके समय आरम्भ तथा सर्वप्रकारके परिग्रह नहीं रहते हैं तब वह वस्त्रधारी

समस्त परिग्रहोंसे छूटना हुवा धर्मध्यानके साधनोंमें स्थिर चित्त करता है उसका वस्त्रोंपर ममत्व नहीं है।

इससे यह ऐसा जाना जाता है मानो यह ऐसा महाग्रणी ही है जो एकान्त वसतिकामें ध्यान करते हुये दिगम्बर जैन मुनिराजपर किसी भोले भाइने वस्त्र डाल दिया हो उढा दिया हो। उनकी प्रतिज्ञाका बाधक होनेसे उपसर्ग रूप ही है यह निर्ग्रन्थ नामक मूल गुणका नाशक है। इसीसे उनकी उस वस्त्रपर ममता नहीं है उसे (अपने शरीरपर पडे हुवे वस्त्रका) उपसर्ग ही समझते हैं अपने "मुख्य मूलगुणका घातक ही है ऐसा जानते हैं' ऐसे मुनिराजकी उत्प्रेक्षा इस सामायिक शिक्षाव्रत को करनेवाले गृहस्थको बतायी है। अथात् सामायिक करते समय यह समस्त प्रकारके आरम्भ परिग्रहका त्यागी तो है किन्तु पहने हुवे वस्त्रोंसे भी ममता नहीं है। सामायिकमें इतना और ऐसा लीन हो जाता है मानो वस्त्रका उपसर्ग हो रहा है ऐसा दिगम्बर जैन साधु ही है जैसे दिगम्बर जैन साधुको उनके वस्त्रोंमें ममता नहीं है उसी प्रकार इस श्रावककी भी उन पहने हुवे वस्त्रों पर ममता नहीं है।

इस प्रकार भगवान समन्तभद्रस्वामीने इस "चेलोपसृष्ट मुनिरिव" वाक्यसे गुणव्रती श्रावकको अन्तरंग परिग्रह तृष्णाके त्याग करनेका उपदेश दिया है। सोही प्रतियोंको करना चाहिये।

गृहस्थ "वस्त्रका हो रहा है उपसर्ग जिसको ऐसे" मुनिके समान मुनि भावको प्राप्त हो जाता है ॥ १०२ ॥

तथा सामायिकं स्वीकुर्वन्तो ये तेऽपि किं कुर्वन्तीत्याह–

सामायिक करनेवाले और क्या करें ? ऐसा बताते हैं–

शीतोष्णदंशमशक-
परीषहमुपसर्गमपि च मौनधरा ।
सामयिकं प्रतिपन्ना,
अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३॥

'अधिकुर्वीरन्' सहेरन्नित्यर्थः । के ते ? 'सामयिकं प्रतिपन्नाः' सामायिकं स्वीकुर्वन्तः । किं विशिष्टाः सन्तः ? 'अचलयोगाः' स्थिरसमाधयः अप्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा । तथा 'मौनधराः' तत्पीडायां सत्यामपि दीनादिवचनानुच्चारकाः ... यद्दिवचनानुच्चारकाः । कमधिकुर्वीरन्नित्याह – शीतेत्यादि शीतोष्णदंशमशकानां पीडाकारिणां तत्परिषहं तावत् सहन्ते परीषहसहनम् । न केवलं तमेव अपि तु 'उपसर्गमपि च' देवमनुष्यतिर्यक्कृतम् ॥ १०३ ॥

अन्वय -सामायिकं प्रतिपन्ना अचला मौनधराः सन्त

१—प्रति पृथक् पदोऽ मती इति च । उपसृष्ट ता तोऽम- तए मूत्राम् ५ । ७ । ८४ अनेन दस्य तस्य च नकारो । अस्य कर्मणि 'न भित्वलोपशाधानुपुणाम् १।४८२ अनेन ताधि- ... निपे ध इ ५१ विभक्ता विहिता ।

शीतोष्णदंशमशकपरीषहम् अपि च उपसर्गम् अधिसहेरन् । कथं भूता श्रावका अचलयोगा ।

निरुक्ति'—शीत च उष्णं च दंशमशकश्च इति शीतोष्णदंशमशका' शीतोष्णदंशमशकानाम् परीषह इति शीतोष्णदंशमशकपरीषहस्तं तथा । मौनं धरतीति मौनधरा । अचलो योगो येषां ते अचलयोगा ॥

अर्थ—सामायिक करनेवाले श्रावक मौन धारण करते हुवे शीत उष्ण दंश मशक परिषहों को तथा उपसर्गों को सहन करें । कैसे हैं वे श्रावक ? स्थिर है समाधि जिनकी । प्रतिज्ञात किये हुये विधि विधानमें स्थिर हैं १०३

त चाधितिष्ठमाणा' सामायिके स्थिता एवंविधं संसारमोक्षयो स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह—

१-परित सहन परीषह —परिपूर्वक षह मर्षणे धातो "पुंसि घ प्रायेण" २।३।११३ इति घ । सिवु सह सुट्स्तु स्वञ्ज ५।४।५१ । इति षकार । अथवा परित सह्यते इति परिषह् "षिनप" २।२।७४ इति "सहरशादिभ्य षिनप त्वि" २।३।६१ इति च षिनप-स्य 'नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनौ क्वौ वा गुणे" ४।३।२८४ इति परिगे दीर्घम् । पुन पत्य च

२-युजिर योगे धातो युजोड समाधौ धोश्च घञ् । 'चजे कुर्धिण्ये तेऽनट" ५।४।६३,अनेन जकारस्य गकार । योजन समाधान-मिति योग समाधि मनश्चेत्यर्थः

परीषह तथा उपसर्गको जीतनेवाला श्रावक सामायिकमें क्या चिन्तवन करे ? सो बताते हैं—

अशरणमशुभमनित्यं,
दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मे-
ति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु। कम्? भवं संसारं चतुर्गतिपर्यटनम्। कथंभूतम्? 'अशरणं' न विद्यते शरणमपायपरिरक्षकं यत्र। अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभम्। तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वसंभवात्। तथा दुःखहेतुत्वाद् दुःखम्। तथाऽनात्मानमात्मस्वरूपं न भवति। एवंविधं भवमावसामि एवंविधे भवे तिष्ठामीत्यर्थः। यद्येवंविधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्माद्दुःखभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादिस्वरूपः, इत्येवं ध्यायन्तु—चिन्तयन्तु सामयिके स्थिताः ॥ १०४ ॥

अन्वय— श्रावकाः सामायिके इति ध्यायन्तु। इतीति किम्? अहं भवम्[1] आवसामि। तत् विपरीतात्मा मोक्षः। कथंभूतं भवम्? अशरणं पुनः अशुभम् पुनः अनित्यम् पुनः दुःखं पुनः अनात्मानम्।

१—भवमिति आवसामि इत्यस्य क्रियाया आधिकरणस्य कर्मसंज्ञा 'उपान्वध्याङ्वसः' १।४।४८। अनेन

निरुक्तिः नास्ति शरणं यस्य यस्मिन् वा स अशरणः तम् अशरणम् । नास्ति शुभं यस्य यस्मिन् स अशुभः, तम् अशुभम् । नास्ति नित्यं यस्मिन् स अनित्यः, तम् अनित्यम् । नास्ति आत्मा यस्मिन् स अनात्मा, तम् अनात्मानम् । विपरीत एव आत्मा स्वरूपो यस्य स विपरीतात्मा तस्मात्, संसारात् विपरीतात्मा इति तद् विपरीतात्मा ॥

अर्थ-श्रावक लोग सामयिकमें इस प्रकार ध्यान करे कि मैं संसारमें बस रहा हूं और इससे उल्टा मोक्ष है । कैसा है संसार ? जिसमें कोई शरण नहीं है तथा अशुभ है और नित्य नहीं है तथा दुःखरूप है और आत्मा के स्वरूपसे भिन्न है । मोक्षका स्वरूप संसारसे विरुद्ध शरणभूत, शुभरूप, नित्य सुखरूप और आत्मस्वरूप है ऐसा चिन्तवन करे ॥ १०४ ॥

साम्प्रत सामायिकस्यातीचारान् ह—

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते । के ते ? अतिगमा अतिचाराः । कस्य ? सामयिकस्य । कति ? पञ्च । कथं ? भावेन परमार्थेन । तथा हि । वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि । अनादरोऽनुत्साहः अस्मरणमनैकाग्र्यम् ॥ १०५ ॥

अन्वय —सामयिकस्यातिगमाः भावेन पञ्च व्यज्यन्ते के ते पञ्च वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानानि अनादरास्मरणे।

निरुक्ति वाक् च कायश्च मानसं च इति वाक्कायमानसानि तेषां वाक्कायमानसानाम्। अनादरश्च अस्मरणञ्च इति अनादरास्मरणे।

अर्थ सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतीचार विद्वान मुनिराजोंने व्यक्त = स्पष्ट किये हैं। जो कि वचन दुःप्रणिधान = शब्दविरुद्ध अशुद्ध पाठ पढना १ काय दुःप्रणिधान = शरीरसे कुचेष्टा करना २ मन दुःप्रणिधान = मनसे दुष्ट परिणाम करना ३ अनादर = सामायिक विधि विधानका आदर न करना ४ अस्मरण = ईर्यापथ दण्डक, चैत्यभक्ति आदिक सामायिक दण्डक पाठोंको भूल जाना ५ ॥ १०५ ॥

१—"भावेन" इति कर्तृपदम्। भावो विद्वान् रवे इत्यमरः, भावा "सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु। क्रियालीलापदार्थेषु बुधजन्तुविभूतिषु" इति रभसः। इति कथनात् भावेन विदुषा मोक्षपुरुषार्थिना मुनिना इत्यर्थः। भावेन इति करणकारकं च तदा परमार्थस्वरूपेनेत्यर्थश्च।

२—अञ्जू गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु इति रुधादिधोः कर्मणि लट् "सार्वधातुके यक्" ३।१।६७ इति यक् विकरणः। व्यज्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते इत्यर्थः। ३ मन एव मानसम् "प्रज्ञादिभ्यश्च" ५।४।३८ इति स्वार्थे अण्

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह—

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥

प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा पर्वणि चतुर्दश्यां, न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयं "प्रत्याख्यानं" केषां? "चतुरभ्यवहार्याणां" चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि। तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां। किं कस्या विदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह- सदा सर्वकाल। काभिः इच्छाभिः व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं, न पुनर्व्यवहारकृतधरणादिभिः ॥ १०६ ॥

अन्वय - पर्वणि—चतुर्दश्यां च अष्टम्यां चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं तु पुनः सदा इच्छाभिः सह चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं प्रोषधोपवासः ज्ञातव्यः।

१-सर्वस्मिन् काले इति सदा "सदा सर्वः" ४।१।२६ इति निपात्य।

२-सहार्थेन" १।३।३४ इति सम्बन्धे भा। इच्छाभि वाञ्छाभि स्खलनात म्। ३-अभ्यवहर्तुं भोक्तुं योग्यानि "ण्य" २।१।१२५ इति कर्मणि ण्य णि पूर्वक हृञ् धो ण्य। अभ्यवह्रियन्ते भुज्यन्ते इति वा अभ्यवहार्याणि तदोर्व्यञ्च सार्था २।४।८० कर्मणि ण्य सदिच्छाभिरिति पाठे तु। सत समीचीनस्य व्रतस्य इच्छाभिः न तु स्वराज्यलिप्साभि।

निरुक्ति—चत्वारि चाऽभ्यवहार्याणीति चतुरभ्यवहार्याणि तेषां। तथा प्रोषधे पर्वणि उपवास प्रोषधोपवास ।

अर्थ—पर्व चतुर्दशी और अष्टमीके दिन अन्न पान खाद्य लेह्य इन चारों प्रकारके भोजनोंका त्याग करना और पर्व दिनोंके अतिरिक्त अन्य समस्त दिनोंमें भी अपनी इच्छाके अनुसार व्रतविधानके उद्देशसे चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत जानना अर्थात् यह प्रोषधोपवास पर्वके दिनोंमें तथा अन्य दिनोंमें भी घडी दो घडी प्रहर दो प्रहर आदि कालों में भोजनोंका त्याग अथवा दो एक प्रकारके भोजनोंका प्रत्याख्यान करे। यह केवल पर्व दिनोंके लिये ही नहीं है समस्त कालके लिये भी होता है। यह कथन "तु" पद से जाना जाता है।

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याह—

उपवासके दिन भोजनोंका ही त्याग होता है या अन्य विषयोंका भी? उत्तर—औरोंका भी होता है ऐसा बताते हैं—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां? पञ्चानां

पापाना हिंसादीनां । तथा अलङ्कियारम्भगन्धपुष्पाणाम्, अलङ्क्रिया मण्डनम्, आरम्भो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनाम् । तथा "स्नानाञ्जननस्यानाम्" स्नान च अञ्जन च नस्यश्च तेषाम् ॥ १०७ ॥

अन्वय -उपवासे पञ्चानां पापानाम अलङ्क्रियारम्भगन्ध पुष्पाणां स्नानाञ्जननस्यानां परिहर्ति कुर्यात ॥

निरुक्ति -अलङ्क्रिया च आरम्भश्च गन्धश्च पुष्पं च इति अलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणि तेषाम् तथा स्नानं च अञ्जनं च नस्य च इति स्नानाञ्जननस्यानि तेषां ।

अर्थ उपवासके दिन पांचों पापोंका और आभूषणादिक अलङ्कार तथा कृषि वाणिज्य आदि आरंभोंका, गन्धका, पुष्पोंका, स्नान करनेका, अंजन आंजनेका तथा नस्य आदि सूंघनेका त्याग करे ॥ १०७ ॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह -

इनका परित्याग कर उस दिनका कर्तव्य बताते हैं—

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन् धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकल-,

१-नासिकायै हितमिति नस्यम् "प्राण्यङ्गरथखलम व माड वृषब्रह्मतिलाच" ३।४८ इति य । पुनः "येऽवर्णे" ४।३।२१५ इति नासिका शब्दस्य नस आदेश ।

प्राणिनाम् आस्यकमलात् तत् पिबतु । काभ्यां ? श्रवणाभ्याम् । कथंभूतः ? सतृष्णः साभिलाषं पिबतु न पुनरुपरोधादिवशात् । स्वयमनवगतधर्मस्वरूपस्तु स यतो धर्मामृतं पिबतु । पाययेद्वा यान् वा स्वयमवगतधर्मस्वरूपस्तु स यानविदिततत्स्वरूपान् पाययेत् । वा 'ज्ञानध्यानपरो' भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः ॥

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोकबोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

"ध्यानपरः" आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठः भवतु । किं विशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥

अन्वय — अतन्द्रालुः श्रावकः उपवसन् सन् सतृष्णः श्रवणाभ्यां धर्मामृतं पिबतु वा अन्यान् पाययेत् वा ज्ञानध्यानपरः भवतु ।

निरुक्ति — धर्म एव अमृतं धर्मामृतं तत्, तया तृष्णया सह वर्तते इति सतृष्णः । ज्ञानं च ध्यानं च ज्ञानध्याने । तयोः परः ज्ञानध्यानपरः न तन्द्रालुः अतन्द्रालुः ।

१-पा पाने णिजन्तात् धो लिङ् "शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्" ६।२।४३ इति युगागमः । पाययेत् श्रावयेत् ।

२- 'तेन सहेति तुल्ययोगे' १।७।१६५ अनेन समासः । "वोपसर्जनस्य" ५।३।८९ इति सहस्य सः । ३ "निद्रा तन्द्राश्रद्धा शीङ्स्पृहिगृहिपतिदयि [illegible]

अर्थ- निरालस होता हुआ उपवास करनेवाला शिक्षाव्रती रुचि सहित कानोंसे धर्मरूपी अमृतको पीवे और दूसरोंको पिलावें तथा ज्ञान ध्यानमें तत्पर रहे ॥ १०८ ॥

अधुना प्रोषधोपवासलक्षणं कुर्वन्नाह—

उपवास प्रोषध और प्रोषधोपवासका लक्षण कहते हैं-

चतुराहारविसर्जन मुपवास प्रोषध सकृद्भुक्ति ।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति १०९

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणा , अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमम्लादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रबादि तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासो विधीयते । प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्तिः धारणकदिने एकभक्तविधानं । यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासो- ऽभिधीयते इति ॥ १०९ ॥

अन्वय –चतुराहारविसर्जनम् उपवासः भवति सकृद्भुक्तिः प्रोषधः भवति । यद् उपोष्य आरम्भम् आचरति स प्रोषधोपवासः ॥

निरुक्ति –चतुर्णाम् आहाराणाम् विसर्जनम् चतुराहारविसर्ज- नम् । एक वारमिति सकृत् (एक बार) भुक्तिः सकृद्भुक्तिः प्रोष- धेन सह उपवासः प्रोषधोपवासः ॥

१—सकृत् ४ । २ । २३ इति एक शब्दात् सुच् स्यात् सकृदा- देशश्च । तस्य सात् आरस इत्यादिना १ । १ । ८८ भिसंज्ञा

अर्थ–चारों प्रकारके आहारोंका छोड़ना सो उपवास है। दिनमें एकबार भोजन करना सो प्रोषध है। जो उपवास करके पारणाके दिन एक बार भोजन करे सो प्रोषधोपवास है।

अथ के ऽस्यातीचारा इत्याह—

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतीचार बताते हैं–

ग्रहणविसर्गास्तरणा न्यदृष्टमृष्टा न्यनादरास्मरणे
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकं मतिचारपंचकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। 'ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि' कथं भूतानि? 'अदृष्टमृष्टानि' दृष्ट दर्शनं "जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा" चक्षुषावलोकनं, मृष्टं मृदुनोपकरणेन प्रमार्जनं, तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं सस्तरोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षापीडितत्वाद-नादरोऽनेकाग्रतालक्षणमस्मरणं भवति ॥ ११० ॥

अन्वय तत् इदं प्रोषधोपवास–व्यतिलंघनपंचकं भवति यत् अदृष्टमृष्टानि ग्रहणविसर्गास्तरणानि च अनादरास्मरणे।

निरुक्ति –व्यतिलंघनानां पंचकमिति व्यतिलंघनपंचकम्।

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलङ्घनपंचकमिति प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपंच-कम्। दृष्टं च मृष्टं च दृष्टमृष्टे न निषेते दृष्टमृष्टे येषु तानि दृष्ट-मृष्टानि। ग्रहणं च विसर्गश्चास्तरणं चेति दृष्टविसर्गास्तरणानि। अनादरश्च अस्मरणं चेति अनादरास्मरणे।

अर्थ. सो ये प्रोषधोपवासके पांच अतीचार हैं जो कि विना देखे विना शोधे ग्रहण करना १ विना देखे विना सोधे रखना २ और विना देखे विना शोधे आसन आदि को बिछाना ३ अनादर करना ४ विधिको भूल जाना ५॥

इदानीं वैयावृत्त्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह -

वैयावृत्त्य शिक्षाव्रतका लक्षण बताते हैं -

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥११॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्त्यमुच्यते। कस्मै दानं? 'तपोधनाय' तप एव धनं यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? 'गुणनिधये' गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै। तथा ऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय किमर्थं? 'धर्माय' धर्मनिमित्तं। किंविशिष्टं तद्दानं? 'अनपेक्षितो-पचारोपक्रियम् उपचारः प्रतिदानं, उपक्रिया मंत्रनयादिना प्रत्युप

१-मृजूष शुद्धौ धो च। "व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राजच्छशां षः" ८।२।३६ इति जस्य षः। २-षि गौ सृजौ विसर्गे धो घञ्। च जो कुघिण्ण्यतेऽनिटः ५।२।६४ इति जस्य गः।

करण, ते न अपेक्षिते येन । कथं तद्दान ? 'विभवेन' विधिद्रव्यादि सम्पदा ॥ १११ ॥

अन्वय अगृहाय तपोधनाय गुणनिधये विभवेन दानं वैयावृत्य भवति दानम् कीदृशं अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् किम र्थम् ? धर्माय ॥

निरुक्ति - व्यावृत्ते' कर्म भावो वा वैयावृत्यम् । तपः एव धन यस्य स तपोधन । तस्मै तपोधनाय । गुणानां निधि गुणनिधि तस्मै गुणनिधये । न अपेक्षित उपचार' उपक्रिया च यस्मिन् तत् अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् । नास्ति गृह यस्य स अगृह तस्मै अगृहाय ।

अर्थ-गृहत्यागी तपस्वी चारित्रादि गुणोंके निधान ऐसे साधुओंको आहारादिकोंका अपनी सुयोग्य सम्पत्ति के अनुसार शुद्ध आहार औषधि उपकरण और वसतिका (स्थान) का प्रदान करना सो वैयावृत्य शिक्षाव्रत है। कैसा है वह प्रदान ? नहीं है प्रतिदान (बदलेमें किसी वस्तुका लेना) और प्रत्युपकार (मन्त्र तन्त्र औषधि आदि की वांछा) जिससे किसलिये करता है ? अपने गृहस्थ धर्म की प्राप्ति और वृद्धिके लिये।

१-राजपत्यन्तगुणोक्ति राजादिभ्य ष्यञ्च ५।१।१२४ इति ष्यञ्। पदे न वेशीय ५।३।६ इति ष्यप्।

२ "सम्प्रदानेऽप्" १।४।२३ "कर्मणोपेय सम्प्रदानम् १।२।१२६ आभ्यां सम्प्रदानसंज्ञा—अप् च विभक्तौ।

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपि तु ।

दानके अतिरिक्त अन्य भी वैयावृत्य है, ऐसा बताते हैं—

व्यापत्तिव्यपनोदः, पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥

"व्यापत्ति-व्यपनोदः" व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्यमेव । तथा 'पदयोः संवाहनं' पादयोर्मर्दनं । कस्मात् ? गुणरागात् भक्ति-वशादित्यर्थः न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा । न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देशसकलयतीनां सम्बन्धी यावान् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्य-मेवोच्यते ॥ ११२ ॥

अन्वय—गुणरागात् संयमिनां व्यापत्तिव्यपनोदः वैया-वृत्यं भवति । गुणरागात् संयमिनां पदयोः संवाहनं वैयावृत्यं भवति । अपि च गुणरागात् संयमिनां यावान् [illegible] य उपग्रहः तावान् सर्वोऽपि वैयावृत्यं भवति ॥

निरुक्ति गुणेषु रत्नत्रयेषु अनुरागः गुणानुरागः तस्मात् गुणानुरागात् । संयमः विद्यते येषां ते संयमिनः तेषां संयमिनाम् । व्यापत्तीनां व्यपनोदः परिहारः व्यापत्तिव्यपनोदः ॥

१–पदं मानमस्य यावान् "यत्तदे" ५।२।३९ इति वतु त्य
२–अतोऽनेकाच् ४।१।७६ इति इञ् त्व ।

अर्थ-गुणोंमें अनुरागके होनेसे संयमियोंकी आपत्तिको दूर करना भी वैयावृत्य है। गुणानुरागसे संयमियोंके चरणोंका दाबना भी वैयावृत्य है तथा गुणानुरागसे संयमियोंका जितना अन्य भी उपकार करना उतना सर्व ही वैयावृत्य है ॥ ११२ ॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह—

जो दान वैयावृत्य है उसका वर्णन करते हैं—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणां आर्याणामिष्यते दानम् ॥ ११३ ॥

दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा। येषाम् आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किंविशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पञ्च जीवघातस्थानानि। तदुक्तम्।

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥

खण्डनी-उलूखल, पेषणी घरट्ट, चुल्ली-चुल्हक, उदकुम्भ उदकघट, प्रमार्जनी बोहारी। सूनाश्चारम्भाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुणसमाहितेन।

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥

इत्येवं सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं। कैः कृत्वा ? नव पुण्यैः —

पडिगहमुच्चट्ठाणं, पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥
एतैर्नवभि: पुण्यै: पुण्योपार्जनहेतुभि: ॥ ११३ ॥

अन्वयः सप्तगुणसमाहितेन श्रावकेन नवपुण्यैः अपसूनारम्भाणाम् आर्याणां प्रतिपत्तिः दानम् इष्यते ॥

निरुक्तिः–नव च यानि पुण्यानि तानि नवपुण्यानि तैः नवपुण्यैः । सप्त ते गुणाश्च सप्तगुणाः । सप्तगुणैः समाहितः इति सप्तगुणसमाहितः । तेन सप्तगुणसमाहितेन । सूनैश्च आरम्भाश्च सूनारम्भाः । अपगताः सूनारम्भाः येषां ते अपसूनारम्भास्तेषां तथा ।

अर्थ–सात गुणवाला सज्जातीय श्रावक द्वारा नवधा भक्तिसे पचसून और सर्व तरहके आरंभ रहित आर्योंको (मुनीश्वरोंको) यतियोंको सत्कार पूर्वक जो आहारादिकोंका प्रदान करना है उसे आचार्योंने दान माना है ॥ ११३ ॥

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह —

१–समाधीयते इति समाहितः । सम् आङ् पूर्वक डुधाञ् धारणे च धो कर्मणि क्त 'धातो हि' –२–१६१ इति हिरादेशः । उररीकृत इत्यर्थः । २–ओप्टूङ् प्राणिगर्भविमोचने अस्मात् घो क्तः "ओदितः" ८–२–४५ अनेन क्तस्य नकारादेशः । स्त्रीत्वे टाप् सूना–वधालयः । 'सूनाश्च या पुत्रिके पुत्र्ये जिह्वातले वधालये इत्यजयः । सूनापञ्चकं वधस्थाने गृहशुद्धिकयोरपि इति विश्वः । तेषां भेदा नामानि संस्कृतटीकातो ज्ञातव्यानि ।

इस प्रकार दिये हुवे दानका फल बताते हैं—

गृहकर्मणापि निचितं
कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा
रुधिरमलं धावते वारि॥ ११४॥

विमार्ष्टि[1] स्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत्? कर्म पापरूपं। कथंभूतं? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। काऽसौ? कर्त्री? प्रतिपूजा दानं। केषामपि? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किं विशिष्टानां? गृहविमुक्तानां गृहरहितानाम्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'रुधिरमलं धावते वारि' खलु शब्दो यथार्थे। अयमर्थो, रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि यत् निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि॥ ११४॥

अन्वय—यथा वारि रुधिरमलं धावते तथा अतिथीनां प्रतिपूजा खलु गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि। कथंभूतानाम् अतिथीनां, गृहविमुक्तानाम्।

१–विशेषेण मार्ष्टि शोधयतीति विमार्ष्टि। मृजूष शुद्धौ धातो अदादे लट् ति। "हलादेरुपधायाः" ७।२।११४ अनेन प्राप्त वृद्धि। मृजेर्वृद्धिः ५।२।१ इति वेदुभाष। व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राजच्छशां षः ५।२।७२ इति षत्व सत्वम्।

निरुक्ति*–रुधिर एव मल रुधिरमल* तम् । इति प्रामादिक, किंतु असिमसिकृष्यादिसूनादिक चेति रुधिरमिति कर्मकारकम् । अलमित्यव्यय यथार्थवाचकम् । गृहस्य कर्म गृहकर्म तेन गृहकर्मणा । गृहात् विमुक्ताः ते गृहविमुक्ता, तेषाम् ।

अर्थ–जैसे जल रक्तको शुद्ध कर देता है उसी तरह मुनिराजोंकी पूजादि वैयावृत्य भी गृहस्थियोंके गृहकार्योंसे उत्पन्न हुये पापकर्मको शुद्ध कर देते हैं। कैसे हैं वे साधु जिन्होंने गृहका त्याग कर दिया है ॥ ११४ ॥

साम्प्रत नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फल सम्पद्यत इत्याह—

किस किस प्रतिपत्तिसे (वैयावृत्यसे) क्या क्या फल मिलता है सो क्रमसे बताते हैं

उच्चैर्गोत्रं प्रणते र्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूप, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणते प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्र भवति । तथा दानाद्दानशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादि-रूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्त श्रद्धाविशे

१–प्राणवाद शास्त्रके अनुसार जलका गुण रुधिरको शुद्ध करना भी है । इसलिये "रुधिरम्" यह द्वितीयान्त पद कर्म कारक है और "मलम्" यह अव्यय पद वस्तु स्वरूपका द्योतक है यही - . टीकाकारका है ।

पलक्षणाया सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुति विधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ ११५ ॥

अन्वय –तपोनिधिषु प्रणतेः उच्चैर्गोत्रं भवति तपोनिधिषु दानात् भोगः भवति तपोनिधिषु उपासनात् पूजा, तपोनिधिषु भक्तेः सुन्दररूपं, तपोनिधिषु स्तवनात् कीर्तिर्भवति ॥

निरुक्ति –उच्चैः यत् गोत्रं उच्चैर्गोत्रम् । सुन्दरं च यत्रूपं सुन्दररूपम् । तपसा निधयः तपोनिधयः तेषु तपोनिधिषु ॥

अर्थ–तपोनिधियोंको प्रणाम करनेसे उच्चगोत्र बंधता है । उनको दान देनेसे भोगसामग्री प्राप्त होती है । तथा उनकी उपासना करनेसे पूजा होती है । उनकी भक्ति करनेसे दिव्य रूप मिलता है । उनका स्तवन करने से जगतमें कीर्ति फैलती है ॥ ११५ ॥

ननु एवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशङ्काऽपनोदार्थमाह–

ऐसे उत्कृष्ट फलको स्वल्प दान कैसे प्राप्त करा सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हैं –

क्षितिगतमिव वटबीजं,
पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं,
बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगत सपात्रे दत्त शरीरभृतां ससारिणामिष्ट फल वहुनेकप्रकारसुदरूप भोगोपभोगादिलक्षण फलति। कथभूत ? छायाविभव-छाया माहात्म्य, विभव सम्पत्, तौ विद्येते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थ क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह क्षितिगत सुक्षेत्र निक्षिप्त यथा अल्पमपि वटबीज बहुफल फलति। कथ ? छायाविभव छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभव प्राचुर्य यथा भव त्येव फलति॥ ११६॥

अन्वयः -यथा क्षितिगतम् अल्पमपि वटबीज शरीरभृताम इष्ट काले छायाविभव यथास्यात्तथा बहुफल फलति तथा पात्रगतम् अल्पम् अपि दान शरीरभृताम् इष्ट काले बहुफल फलति।

निरुक्ति -क्षितौ गत क्षितिगतम्। वटस्य बीज वटबीजम्। शरीर बिभ्रति इति शरीरभृतः तेषाम्। (छायाया विभव छायाविभवः सम्) छाया च विभवश्च विद्येते यत्र तत् छायाविभवम्, पात्रे गत पात्रगतम्। बहु च यत् फल तत् बहुफल।

अर्थ–जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ छोटासा भी वटका बीज समयपर प्राणियोंको प्यारी ऐसी बहुत छायाको देता है। उसीप्रकार सत्पात्रको थोड़ा सा भी दिया हुआ दान प्राणियोंको योग्य महत्वको तथा सपदाको (समयपर बहुत ऐसे उत्तम फलको) फलता है॥ ११६॥

तच्चैवविधफलसम्पादक दान चतुर्भेद भवतीत्याह—

उस दानके भेद बताते हैं–

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥

वैयावृत्त्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयन्ति च । कथं ? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन । के ते ? चतुरस्राः पण्डिताः । तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह आहारश्च भक्तपानादि औषधं च व्याधिस्फेटक द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादि आवासो वसतिकादि ॥

अन्वयः—चतुरस्राः चतुरात्मत्वेन वैयावृत्त्यं ब्रुवते । कथंभूतेन चतुरात्मत्वेन ? आहारौषधयोः दानेन अपि च उपकरणावासयोः दानेन ।

निरुक्तिः—चत्वारः आत्मनः स्वरूपाः यस्य तत् चतुरात्म तस्य भावः चतुरात्मत्वं । व्यावृत्ते कर्म वैयावृत्त्यम् । आहारश्च औषधश्च आहारौषधौ तयोः । उपकरणं च आवासश्च उपकरणावासौ तयोः । चत्वारः अस्राः कोणाः द्रव्यक्षेत्रकालभावाः येषां ते चतुरस्राः विद्वांसः ।

१-ज्ञानदान और अभयदान नहीं कहे हैं क्योंकि ये महाव्रतियोंके ही होते हैं ।

२-गां भूमिं योनिं त्रायते रक्षतीति गोत्रं कुलम् । यत्र उच्चै मनुष्यादिशरीरस्य उपादानानि रजांसि वीर्याणि तेषां चोत्पादकस्त्रीपुरुषशरीराणामुत्कृष्टो निर्दोषः उत्तमाचरणं च यत् तत् उच्चैर्गोत्रं भवति ।

अर्थ— बुद्धिमान् गणधरदेवोंने चार भेदोंसे वैयावृत्यको कहा है। कौनसे वह चार भेद हैं? आहारदान, औषधदान, उपकरणदान, वसतिकादान ॥ ११७ ॥

विशेष-गृहस्थ श्रावक इनही चारों दानोंको करता है। उपकरणमें शास्त्र पिच्छिका कमण्डलु साडी धोती कौपीन लेखनी मसी कागज शय्यादिक हैं। वसतिकादानमें धर्मशाला जिनमंदिर शास्त्रभंडार विद्यालय पाठशाला विहार इत्यादिक हैं ये चार प्रकारके दान महाव्रती मुनि आर्यिका वानप्रस्थ आदि पूज्य महापुरुषोंको देनेसे भक्तिदान, अणुव्रती गृहस्थोंको, ब्रह्मचारिणी नैष्ठिक धर्मप्रभावक पाठक आदिको देनेसे उत्तम समदत्ति है। ज्ञानदान और अभयदान ये दोनों ही दान महाव्रती साधु केवली श्रुतकेवली (ही मुख्यतासे) करते हैं। इसीसे इस उपासकाध्ययनमें (श्रावकाचारमें) ये ही चार दान बताये हैं।

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याह—

दानफल भोगनेवालोंके ऐतिहासिक नाम बतलाते हैं—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्यस्यैते,चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥११८॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधस्य वैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः ।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता

द्वितीया अनिन्दिता च । पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ । तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बूः, पुत्री सत्यभामा । पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो बटुकान् वेदं पाठयति । तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् छद्मना वेदं शृण्वन् तत्पारगो जातो, रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः । सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः । सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामायाः योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता । सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति । एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रां कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः । कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम् । सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा पृष्टं तात ! तव शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति तत्किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय । ततस्तेन कथितं पुत्रि ! मदीयचेटिकापुत्र इति । एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा तया च सा पुत्री ज्ञाता । एकस्मिन्दा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्ककीर्त्यमितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम् । तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना । तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना । स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारम्पर्येण शा- ... जातः । आहारदानफलम् ॥ १ ॥

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्त । अस्या कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेन , श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्री , पुत्रा वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवतीनामा । एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्ताया रोगगृहीत कुक्कुर पतितलुण्ठितोत्थित रोगर हितमालोक्य चिन्तित धात्र्या,-पुत्रीस्नानजलमेवात्रारोग्यत्वे कारणम् । ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीताया कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौते दृष्टी च शोभने जाते तत सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे सजाता । एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमत्री बहुसैन्योपेतो मेघपिंगलोपरि प्रेषित । स त देश प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीत । स च व्याघुट्यागत रूपवत्या च तेन जलेन निरोगीकृत । उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गत तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलाज्जलवृत्ता तमाकर्ण्य तज्जल याचितवान् । ततो मत्री उक्तो धनश्रिया भो श्रेष्ठिन् ! कथ नृपते शिरसि पुत्रीस्नानजल क्षिप्यते ? धनपतिनोक्त यदि पृच्छति राजा जलस्वभाव तदा सत्य कथ्यते न दोष । एव भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेन । ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम् । तया च सत्यमेव कथित । ततो राज्ञा व्याहूत श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञ समीपमायात । राजा च गौरव कृत्वा वृषभसेना परिणेतु स याचित । ततः श्रेष्ठिना भणित देव ! यद्यष्टाह्निकीं पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि । उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टराज्ञी च कृता । अति

धक्षमया तयैव च सह विमुक्तानाकार्यै क्रीडा करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्या पृथिवीच द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽति-प्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्त। ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मन्त्रिभि सह मन्त्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्या सर्वत्राधारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारिता, तेषु भोजन कृत्वा कावेरीपत्तन ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्त वृत्तान्त माकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने त्व मामपृष्ट्वा वाराणस्या कथ सत्कारान् कारयसि? तया भणितमह न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिता तेषा शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषं कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनाया सर्वं कथितम्। तया च राजान विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीच द्र। तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते। तयोरधो निजरूप सप्रणाम कारितम्। स फलकस्तयोर्दर्शित भणिता च वृषभसेना राज्ञी देवि! त्व मम माताऽसि त्वत्प्रसादादिद जन्म सफल मे जात। तत उग्रसेन स मान दत्वा भणितस्त्वया मेघपिंगलस्योपरि गन्तव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्या वाराणस्यां प्रेषितः। मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममाय पृथ्वीच द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादित साम तो जात। उग्रसेनेन चास्थानस्थि तस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता। एवमेकदा रत्नकम्बलद्वयमागत स्वनामाङ्क कृत्वा तयोर्दत्त। एकदा मेघपिंगलस्य राज्ञी मेघपिंगलकम्बल प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता।

तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसमायामागतः, राजा च तमालोक्याति कोपादरक्ताक्षो बभूव। मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता 'यदि एत स्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति'। ततो व्रतमाहा त्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम्। तच्छ्रुत्वा पश्चा त्ताप कृत्वा राजा तामानेतुं गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधर-नामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्व-भवचेष्टितं पृष्टः। कथितं च भगवता, यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मण पुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि। तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनि दत्तनामा मुनिः पर्यङ्ककायोत्सर्गेण स्थितः। तया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि (तत्र) लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्तया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितानि श्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपति धनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौ षधर्द्धिफलं जातम्। कचवारपूरणात् कलङ्किता च। इति श्रुत्वात्मानं

मोर्चार्य या वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम् ॥ २ ॥

श्रुतोपकरण (श्रुत) दाने कौण्डेशो दृष्टान्त। अस्य कथा—

कुरमणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटराद्वृक्षस्य चिरंतनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारका केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्त कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितम् एवं भूयात् पुनर्दर्शनमिति। स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जात। तपो गृहीत्वा कौण्डेशनामा महामुनि श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य श्रुतोपकरणदानस्य फलम्॥ ३ ॥

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्त। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा, नापितश्च धमिल्ल नामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चाद् परिव्राजकस्तत्रानीय धृत। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारित स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमान स्थित, प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकर- ... तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य ... तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य

मन गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगंधमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थित। तत्रापि तौ परस्परं युद्ध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धानात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वात् मृत्वा नरकं गतः। इति वसतिदानस्य फलम् ॥ ॥

अन्वय—चतुर्विकल्पस्य वैयावृत्यस्य एते दृष्टान्ता मन्तव्याः। एते के? श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेश सूकरः।

निरुक्ति-चत्वारो विकल्पा यस्य तत् चतुर्विकल्पं तस्य चतुर्विकल्पस्य। श्रीषेणश्च वृषभसेना च इति श्रीषेणवृषभसेने।

अर्थ—चारों वैयावृत्यों के ये चारों दृष्टान्त समझने चाहिये। वे कौन हैं? आहारदानमें श्रीषेण और औषध दानमें वृषभसेना, उपकरणदानमें कौण्डेश और वसतिका दानमें सूकर पशु।

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह—

जैसे चतुर्थ शिक्षाव्रतोंके चारों दान बताये हैं उसी प्रकार जिनपूजन विधान भी करना बताते हैं—

देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥

१-भा सेना यस्य स भावत। "पत्यन्त" ५।४।२६ पत्यम्। पुन "पुनोनोऽप्रिमिन्ने" ५।४।११ धनेन च णत्वादेश।

आदृत आदरयुक्तो नित्य परिचिनुयात् पुष्ट कुर्यात् । किं ? परिचरण पूजा । किंविशिष्ट ? सर्वदु खनिर्हरण नि.शेषदु खविनाशक । क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरण• पाद तस्मिन् । कथंभूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामविध्वसके ॥ ११९ ॥

अन्वय•—देवाधिदेवचरणे नित्य आदृत परिचरण परिचिनुयात् । कीदृशे देवाधिदेवचरणे ? कामदुहि पुन कामदाहिनि किंभूत परिचरणम् ? सर्वदु खनिर्हरणम् ॥

निरुक्ति —देवानाम अधिदेव देवाधिदेव । देवाधिदेवस्य चरण देवाधिदेवचरण तस्मिन् देवाधिदेवचरणे । सर्वाणि दु खानि निर्हरति इत्येवं शील सर्वदु खनिर्हरणम । काम भोग दोग्धि इति कामधुक् तस्मिन् । काम म मथ दहति इत्येवं शील तत् कामदाहि तस्मिन् ॥

अर्थ—देवाधिदेवके चरणोंकी हमेशा आदरसहित पूजा भक्ति करे । कैसे हैं भगवानके चरण ? मनोवाछित फलके देनेवाले और काम ज्वरके जलानेवाले हैं । कैसी

१-आङ पूर्वक दृङ आदरे धो क्त । "आदृतो सादरा र्चितौ" इत्यमर । प्रथमान्त ।

२-कामपूर्वकदुहीज क्षरणे धो "क्विप" ३।२।७६ इति कर्तरि क्विप त्य । ३-कामपूर्वक दह भस्मीकरणे धो "शीलेऽजातौ णिन् ३।२।७८ इति णिन् त्य ।

है वह पूजा ? सम्पूर्ण प्रकारके दुःखोंको दूर करने वाली है ॥ ११९ ॥

पूजामाहात्म्यं किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशङ्क्याह—

जिनपूजनके महत्व प्रकट करनेवालेका नाम बताते हैं—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

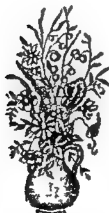
भेको मण्डूकः प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः अवदत् कथितवान् । किमित्याह—अर्हदित्यादि, अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्या महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं । केषामवदत् ? महात्मनां भव्यजीवानां । केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन । क्व ? राजगृहे ।

अस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः, श्रेष्ठी नागदत्तः श्रेष्ठिनी भवदत्ता । स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वात् मृत्वा निजप्राङ्गण वाप्यां भेको जातः । तत्र चागतामेकदा भवदत्तां श्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः । तया च पुनः पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च ततस्तया कोऽप्ययं मदीय इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः । तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः । श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागत माकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः । श्रेष्ठ्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्राङ्गणवापी-

हैं (कौनसे वे पाच) जो कि हरित पिधान (हरित पत्र से ढकना) हरित निधान (हरित पत्रमें रखना) २ अनादर आदरसे दानको न देना वा देकर पश्चाताप करना स्मरण विधिका भूल जाना ४ और मत्सरभाव दूसरे दाताओंकी प्रशंसाको न सहना ५ ॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धान्तशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सद्वृत्ताधिकारे शिक्षाव्रतवर्णनो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।



सद्वृत्ते संल्लेखनाधिकारः षष्ठः।

अथ सागारिणामणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या सा च किंस्वरूपा कदाचानुष्ठातव्येत्याह—

जिसप्रकार गृहस्थ श्रावक अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका पालन करता है उसीप्रकार सल्लेखनाव्रत-का भी पालन करता है, अतएव संल्लेखनाका स्वरूप, उसके प्राप्त होनेका प्रयत्न और उसका समय क्या है ऐसा बताते हैं—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संल्लेखनामार्याः॥ १२२॥

आर्या गणधरदेवादयः सल्लेखनामाहुः। किं तत्? तनु-विमोचनं शरीरत्यागः। कस्मिन् सति? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवा-ऽचेतनकृते। निष्प्रतीकारे प्रतीकारागोचरे। एतच्च विशेषणं दुर्भिक्ष-जरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं। किमर्थं तद्विमोचनं? धर्माय रत्न-त्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्यार्थम् ॥ १२२ ॥

अन्वय—उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि च रुजायां निष्प्रतिकारे

१—जरया क्व—५।१।१२४ (इति किं परे कुमारेशः)।

२—प्रतिषेधकः कृषो घञ् ततो "ससि" प्रायः" ४।३।२६६

सति धर्माय तनुविमोचनम् आर्या सल्लेखनामाहुः ॥

निरुक्तिः—दुर्गता दुष्प्राप्या भिक्षा भिक्षिता भक्ष्या यस्मिन् समये क्षेत्रे वा स दुर्भिक्षः तस्मिन्। निर्गत प्रतीकारः चिकित्सा यस्मात् स निष्प्रतीकारः तस्मिन्। तनोः शरीरस्य विमोचनं त्यजनमिति तनुविमोचनम् ॥

अर्थ—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा तथा रोग इनको असाध्य (बेइलाज) होनेपर जो धर्मार्थ शरीरको छोड़ दना उसको आचार्य सल्लेखना कहते हैं ॥ १२२ ॥

सल्लेखनायां भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्योऽत आह—

"सल्लेखनाके निमित्त निरंतर प्रयत्न करना चाहिये"- ऐसा बताते हैं।

अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते

इत्यनेन प्रत्ययस्य दीर्घत्वम्। निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम् ५।१।३१ इति 'रकारस्य विसर्गादेशः। पुनः स्यादशयोः ५।४।४२ अनेन 'शषसर्गस्य वा विसर्गादेशः'।

लिख अक्षरविन्यासे धातोः भावे 'क्या शिरस्थालिङ्ग-महिम्नाम् शशा१४ इति अन प्रत्ययः। स्त्रीत्वे 'अजाद्यतष्टाप्' अनेन च टाप्। लेखना तनूकरणम्। सम्-सम्यक् प्रकारेण लेखना सल्लेखना। अत्र तुग्माड्" ५।४।११ अनेन समो म कारस्य अनुस्वारादेशः पुनः 'वा तुक पदान्तस्य' ५।४।१६ अनेन च अनुस्वारस्य इसवर्ण लँकारादेशः सल्लेखना। तस्य च 'पदमाप्यम्' १।२।१४ इति पद संज्ञा। 'धर्मणाप" १।३।१ इति अन सुप्।

तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति । किं तत् ? तपःफलं तपसः फलं तपःफलं सकलं तप इत्यर्थः । कथंभूतं तत् ? अन्तक्रियाधिकरणम् अन्ते क्रिया सन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपःस्तत्फलम् । यत एवं । तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्तव्यः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—सकलदर्शिनः अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं स्तुवते तस्मात् समाधिमरणे यावद्विभवं प्रयतितव्यम् ।

निरुक्ति—अन्ते चरमे निधने या क्रिया तस्याः अधिकरणम् अन्तक्रियाधिकरणम् सन्यासमरणम् । सकलं युगपत् पश्यन्ति इत्येवं शीलाः ते सकलदर्शिनः । यावान् विभवः यावद्विभवम् । समाधिना सहितं मरणं समाधिमरणम् । प्रकृष्टेन यतितुं योग्यं प्रयतितव्यम् ॥

अर्थ श्रीमगवन्तदेवोंने अन्तिम सन्यासको साधनस्वरूप जो तपका फल है—उसीको प्रशंसित किया है इसलिये समाधिमरणके सम्बन्धमें जितनी शक्ति हो उतना अधिक यत्न करो ॥ १२३ ॥

१–तपसाम् अणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानाम् अनशनादीनां प्रायश्चित्तादीनां च । फलं लाभं इति २–इप च सं प्रशंसतां यत्न प्र. २ ३–'शीङ्स्नातो णिन्' २।२।७९ "माघो" २।२।८६ आर्भ्यां णिन् ३।३ कर्तरि वा । 'यावदर्थेवानिवे' १।३।६ इति हस्यावती पूर्णतः यत्न कर्तव्य ।

तत्र यत्नं कुर्वाणः एवं कुर्यादित्याह—

सल्लेखनाके प्रयत्न करनेकी रीति बताते हैं—

स्नेहं वैरं सङ्गं
परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च
क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेनः
कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रत-
मामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत्। किं कृत्वा? अपहाय त्यक्त्वा। कं? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं। वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं। संगं पुत्रस्त्र्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादिसम्बन्धं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं। एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत्। तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि। किं तत्? महाव्रतं। कथंभूतं? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं, निःशेषं च पंचप्रकारमपि। किं कृत्वा? आलोच्य। किं तत्? एनो दोषं। किं तत्? सर्वं कृतकारितानुमतं च। स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतु, मतेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं। एतत्सर्वमेनो

निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत्। दश हि आलोचनादोषा भवन्ति। तदुक्तं—

आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलगं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥१॥ इति।

अन्वयः—श्रावकः शुद्धमनाः सन् स्नेहं वैरं सङ्गं च परिग्रहम् अपहाय प्रियैः वचनैः स्वजनम् अपि च परिजनम् क्षान्त्वा क्षमयेत्। तथा कृतकारितं च अनुमतं सर्वम् एनः निर्व्याजम् आलोच्य आमरणस्थायि निरशेषम् महाव्रतम् आरोपयेत् ॥१२५॥

निरुक्तिः शुद्धं मनो यस्य स शुद्धमनाः। स्वस्य जनः, स्वश्चासौ स्वकीयश्चासौ वा जनः स्वजनः तं स्वजनम्। कृतं च कारितं चानयोः समाहारः कृतकारितम्। निर्गतः व्याजो दम्भो यस्मात्तद् निर्व्याजम्। मरणम् अभिव्याप्य इति आमरणम्। आमरणं तिष्ठतीत्येवं शीलम् आमरणस्थायि ॥

१—"शीले ऽजातौ णिन्" २।२।७८ इति णिन् ततः। "हृस्वो गुरु" ३।५।२।३७ निर्गताः सन्ति शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निरशेषम्। २—ओहाक् त्यागे धो "परकालैककर्तृकात्" २।४।७ इति क्त्वा स्यं। पुनः अप शब्दस्य "ति" १।२।१६० इति ति संज्ञा ततः "तिक्वाद्युः" १।३।८२ इति षसः। "य्यास्तिवाक्से त्वः" ५।१।३१ अनेन क्त्वा त्यस्य य्यः आदेशः। ३—आङ् पूर्वक रुह धौज ञ मनि इति धो णिच् पुनः ४—"रुहः पः" ५।२।५० इति हकारस्य पकारादेशः

तत्र यत्न कुर्वाणः एवं सल्लेखनां कुर्यादित्याह—

सल्लेखनाके प्रयत्न करनेकी रीति बताते हैं:—

स्नेहं वैरं सङ्गं
परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च,
क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेनः,
कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रत-
मामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत्। किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा। किं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं। वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं। सङ्गं पुत्रस्त्र्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादि-सम्बन्धं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरम्। एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत्। तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि। किं तत् ? महाव्रतम्। कथंभूतम् ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं, निःशेषं च पंचप्रकारमपि। किं कृत्वा ? आलोच्य। किं तत् ? एनो दोषं। किं तत् ? सर्वं कृतकारितानुमतं च। स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं। एतत्सर्वमेनो

निर्व्याज दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं—

आकम्पिय अणुमाणिय जंदिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलगं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥१॥ इति ।

अन्वय —श्रावकः शुद्धमना स्नेहं वैरं सङ्गं च परिग्रहम् अपहाय प्रियैः वचनैः स्वजनम् अपि च परिजनम् क्षान्त्वा क्षमयेत् । तथा कृतकारितं च अनुमतं सर्वम् एनः निर्व्याजम् आलोच्य आमरणस्थायि निरशेषम् महाव्रतम् आरोपयेत् ॥१२५॥

निरुक्तिः शुद्धं मनो यस्य स शुद्धमना । स्वस्य जनः, स्वश्चासौ स्वकीयश्चासौ यो जन स्वजनः तं स्वजनम् । कृतं च कारितं चानयोः समाहारः कृतकारितम् । निर्गतः व्याजो दम्भो यस्मात्तद् निर्व्याजम् । मरणम् अभिव्याप्य इति आमरणम् । आमरणं तिष्ठतीत्येवं शीलम् आमरणस्थायि ॥

१—'शीले ऽजातौ णिन्' ३।२।७८ इति णिन् ततः । 'इन्नो नुक्' ३५।२।३७ निर्गताः न सन्ति शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निरशेषम् ।
२—ओहाक त्यागे धौ "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" ३।४।२१ इति क्त्वा स्य । पुनः अप शब्दस्य "ति" १।४।६० इति ति संज्ञा ततः "तिक्वाङ्गु" २।२।१८ इति समासः । "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७।१।३७ अनेन क्त्वा स्थाने ल्यप् आदेशः । ३—आङ् पूर्वक रुह धातोः ञ मनि इति धौ णिच पुनः ४—"रुहः पः" ७।३।४३ इति हकारस्य पकारादेशः ।

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्यज्य । कं ? आहारं कवलाहाररूपं । कथं ? क्रमशः प्राग्शनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कञ्जिकादिशुद्धपानीयरूपं वा । किं कृत्वा ? हापयित्वा । किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं । कथं ? क्रमशः । स्निग्धं हि परिहाप्य कञ्जिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूपं । पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत् । कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन । किं विशिष्टः सन् ? पञ्चनमस्कारमनाः पञ्चनमस्काराऽऽहितचित्तः ॥१२८॥

अन्वय—क्रमशः आहारम् परिहाप्य स्निग्धं पानं विवर्द्धयेत् च क्रमशः स्निग्धं पानं हापयित्वा खरपानं पूरयेत्-अपि (पुनश्च) खरपानहापनाम् शक्त्या कृत्वा अपि उपवासं कृत्वा पञ्चनमस्कार-मनाः सन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत् ॥

निरुक्ति—खरस्य पानं खरपानम् खरपानस्य हापना इति

१-"बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्" ४।४।४३ 'स्वेदैका-वीप्सायाम्' ४।४।४८ अन्यतरस्याम् अनियमार्थे अल्पार्थकादि-वत्वात् । एकवचनाच्च वीप्सायां वा शस् । क्रियात्वाद्वु-विसर्जनीयम् ॥ २-ओहाक् त्यागे धातोः 'प्रत्ययविवक्षायिणः' । ३।३।१४ इति अत्र स्त्रीत्वे टाप् ॥

खरपानद्दापना ताम् । पचनमस्कारे मनो यस्य [redacted] पञ्चनमस्कार-मना.।। सर्वरचासौ यत्न प्रयत्न इति सरयत्नः तेन ॥

अर्थ-वह समाधिमरण करनेवाला श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार क्रमसे आहारको घटाकर नीरस पेयको ग्रहण करे और उस निमत्व पेयको भी त्याग कर उपवास-को करि पचनमस्कारके रुप रूपमें मन लगाता हुआ सर्व-प्रकारके यत्नसे शरीरको त्यागे ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अधुना सल्लेखनाया अतीचारानाह-

अब सल्लेखना नामक व्रतके [शीलके] अतीचार कहते हैं-

जीवितमरणाशसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचारा, पञ्च जिनेन्द्रै समादिष्टा ॥

जीनित च मरण च तयोराशसे आकांक्षे, भयमिह परलोकभयम्, इहलोकभय हि क्षुत्पिपासापीडादिविषय परलोकभयम्-एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्ट फल परलोके भविष्यति न वेति । मित्रस्मृति बाल्याद्यवस्थाया सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं। 'निदान भानिभोगाद्या-कांक्षण । एतानि पच नामानि येषां ते तन्नामान 'सल्लेखनाया पचातिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थकरै. समादिष्टा आगमे प्रतिपादिता ॥१२९॥

अन्वयः-जिनेन्द्रै सल्लेखनातिचारा पञ्च समादिष्टा ।

१-घञि प्राय ४।४।२६६ अत्र प्राय ग्रहणात् क्वचिद्विकल्पः इति विकल्पपक्षे अति गे न दो । २ सम् आङ् पूर्वक दिश अति-सर्जने धो कर्माणि च । "मस्त्वमस्ज" इत्यादिना '८।२।५५। ष ।] समादिष्टा कथिता ।

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्यज्य । कं ? आहारं कवलाहाररूपं । कथं ? क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कञ्जिकादिशुद्धपानीयरूपं वा । किं कृत्वा ? हापयित्वा । किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं । कथं ? क्रमशः । स्निग्धं हि परिहाप्य कञ्जिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूपम् । पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत् । कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन । किं विशिष्टः सन् ? पञ्चनमस्कारमनाः पञ्चनमस्कारा ऽऽहितचित्तः ॥१२८॥

अन्वय—क्रमशः आहारम् परिहाप्य स्निग्धं पानं विवर्द्धयेत् च क्रमशः स्निग्धं पानं हापयित्वा खरपानं पूरयेत्—अपि (पुनश्च) खरपानहापनाम् शक्त्या कृत्वा अपि उपवासं कृत्वा पञ्चनमस्कार-मनाः सन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत् ॥

निरुक्ति—खरस्य पानं खरपानम् खरपानस्य हापना इति

१—"बह्वल्पार्थाच्छस्कारकाद्वे प्यानिष्टे" ५।२।५७ 'स्पैका-वीप्सायाम्' ४।२।७८ अन्यतरस्याम् अनिष्टार्थे अल्पार्थकादि-वन्तात् । एकवचनाच्च वीप्साया वा शस् । क्रियकत्वाद् विसर्गोऽम् ॥ २—ओहाक् त्यागे धातोः 'ण्यासश्रन्थघट्टि' ३।३।१०७ इति अत्र स्त्रीत्वे टाप् ॥

सल्लेखना ताम् । पञ्चनमस्कारे मनो यस्य स पञ्चनमस्कारमनाः । सर्वश्चासौ यत्नः प्रयत्न इति सर्वयत्नः तेन ॥

अर्थ-वह समाधिमरण करनेवाला श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार क्रमसे आहारको घटाकर नीरस पेयको ग्रहण करे और उस निसत्त्व पेयको भी त्याग कर उपवासद्वारा पंचनमस्कारके स्मरणमें मन लगाता हुआ सर्वप्रकार यत्नसे शरीरको त्यागे ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अधुना सल्लेखनाया अनाचारानाह—

अब सल्लेखना नामक व्रतके [शीलके] अतीचार कहते हैं—

जीवितमरणाशंसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः, पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे, भयमिह परलोकभयम्, इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयं परलोकभयम्—एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति । मित्रस्मृति बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं । निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणं । एतानि पंच नामानि येषां ते तन्नामानः सल्लेखनाया पंचातिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थंकरैः समादिष्टा आगमे प्रतिपादिता ॥१२९॥

अन्वय.-जिनेन्द्रैः सल्लेखनातिचाराः पञ्च समादिष्टाः ।

स्वास्थ्य परमोदासीनता, प्रल्हादोऽनन्तसौख्य, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युजन्ति आत्मसम्बद्धा कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ता। तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिता। इत्थभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रेयसम् अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ॥१३२॥

अन्वय -विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः निरतिशया निरवधयः सन्तः निःश्रेयसं सुखं यथा स्यात्तथा आवसन्ति॥१३२॥

निरुक्तिः विद्या च दर्शनं च शक्तिश्च स्वास्थ्यं च प्रह्लादश्च तृप्तिश्च शुद्धिश्च इति विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धयः ताः युजन्ति ते तथा। निर्गतो ऽतिशयो येभ्यः ते निरतिशयाः। निर्गता अवधयो येभ्यः ते निरवधयः॥

अर्थ-वे सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्त वीर्य परम उदासीनता अनन्त सुख, विषयोंकी अभिलाषा रहित द्रव्य भावकर्मोंसे रहित, परस्परमें न्यूनाधिकता रहित और कालावधिरहित होते हुये उस निःश्रेयसमें सुखस्वरूप स्थिर रहें इस प्रकार निवास करते हैं॥१३२॥

१-'वसोऽनूपाध्याङ'' १।४।४८ इति अधिकरणकारकस्य कर्मसंज्ञा ''कर्मणीप्''। द्वितीया विभक्तिः।

[illegible] पर्यायेण [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]–

इनके निरभिलापता और निरवधिपना कभी भी नष्ट नहीं होता ऐसा बताते हैं।

काले कल्पगतेऽपि न,
गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्,

निरुक्तिः—कल्पानां शतम् कल्पशतम् तस्मिन् । त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिः त्रिलोकसम्भ्रान्तिः तस्याः करणे विधाने पटु समर्थ इति त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥

अर्थ–सैकड़ों कल्पकालोंके व्यतीत होनेपर भी सिद्ध परमात्माके विकार नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोकको भ्रमण करानेमें समर्थ ऐसे उपद्रव भी हो जांय तो हो जांय किंतु तो भी सिद्धोंमें विक्रिया नहीं होती अर्थात् न तीन लोकको उलटनेवाला कभी उपद्रव होता है और न सिद्धोंके विकार होता है ॥ १३३ ॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह–

वे शुद्ध परमात्मा वहां निरन्तर ठहरे हुवे क्या करते हैं सो बताते हैं–

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते धरन्ति । कां ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्री चूडामणिश्री ताम् । किंविशिष्टाः सन्तः–इत्याह–निष्किट्टेत्यादि किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तथाभूतं चामीकरं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषाम् ॥ १३४ ॥

अन्वय –त्रियमर्षं अधिपना पुम्पा निर्धिद्दकालिका-च्छविचामीकरभासुरात्मानं सत त्रैलोक्याशिवामणिमिव दधते ॥

निरुक्ति कि च कालिका च किट्टकालिके, निर्गते किट्टकालिके यस्या सा निर्किट्टकालिका। निर्किट्टकालिकाच्छ विर्यस्य तत् निर्किट्टकालिकाच्छवि। निर्किट्टकालिकाच्छवि च यत् चामीकर तत् निर्किट्टकालिका छविचामीकरम् तस्य इव भासुरो निर्मल आत्मा स्वरूपो येषां ते तथा ॥

१—अधिकरणकारक "कालाध्वभावदेशा धाऽकर्मसंज्ञानाम् १।२।१४४ अनेन कर्मसंज्ञा। २ अधिपूर्वकपद्गतौ धोः क– रूप। प्रासस्य तोनोऽमतृपुम्ङाम् ५।३।८० इति दकारतकारयोः नकारादेशौ। निर्वाणे मोक्षे प्राप्ता प्रतिष्ठिता इति यावत्।

३-काल कृष्णवर्णोऽस्ति यस्यामिति कालिक "आहाद्वण् ३।४।४२ अनेन ठण् रूप कालेन एव कालिका "ठण्" ४।१।२१६ इति स्वार्थे ठण। 'कालिमच्छवि" पाठे ॥ कालस्य कृष्णवर्णस्य भाव स्वरूप इति कालिमा "वर्णदृढादिभ्यष्टयण च ३।४।१४० इति इमन्।

४-भासने इति भासुर भास दीप्तौ धो "भास् मिद्रुभञ्जो घुर" २।२।१५७ इति घुर रूप।

५-त्रिलोक एव त्रैलोक्यम् रूप। "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" ४।२।२८ अनेन स्वार्थे ट्यण।

६-धाञ् धारणे च "हृदादिकञ्जुप्" ५।१।८२ इति शप उचे

जब मोक्षमें प्राप्त हुये पुरुष कीट और कालिमा रहित है छवि जिनकी ऐसे सुवर्णके समान देदीप्यमान है स्वरूप जिनका ऐसे होते हुये तीन लोकके चूडामणिकी शोभाको धारण करते रहते हैं ॥ १३४ ॥

एवं सल्लेखनामनुतिष्ठतां निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह -

जो सल्लेखना करनेवालेके रत्नत्रयसे अभ्युदय होता है उसका स्वरूप बताते हैं।

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ।

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं फलति अभ्युदयफलं ददाति । कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यम्। कथंभूतमभ्युदयम् ? अद्भुतं साश्चर्यं। कथंभूतं तदद्भुतं अतिशयितभुवनं यतः । कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते । किं विशिष्टैरेतैरित्याह बलेत्यादि बलं सामर्थ्यं, परिजनः परिवारः, कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्ठा अतिशयेन वृद्धा ये तेषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अन्वयः सद्धर्मः अद्भुतम् बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैः अतिशयितभुवनम् अभ्युदयम् फलति ॥१३५॥

निरुक्तिः-सन् सम्यङ् चासौ धर्म सद्धर्म । बलश्च परिजनश्च कामश्च भोगश्चेति बलपरिजनकामभोगाः । ते भूयिष्ठा बहुतमा येषु ते, तथा । पूजाश्च अर्थश्च आज्ञा चेति पूजार्थाज्ञा । तासाम् च ऐश्वर्याणि इति । तैः अतिशयितम् उत्कृष्टम् भुवनम् पद लोको यस्मिन् स त तथास्वरूपम् ॥१३५॥

अर्थ वह उत्तम धर्म आश्चर्यकारी और बल(सामर्थ्य) परिजन काम भोग ये हैं प्रचुर जिनमें ऐसे तथा पूजाका ऐश्वर्य पूजार्थोंका ऐश्वर्य और आज्ञाका ऐश्वर्य इनकरि उत्कर्ष (महत्त्व) युक्त ऐसे पद (परमस्थान) को फले है यथार्त् इन्द्रपद चक्रवर्तीपद और तीर्थंकरपदको प्राप्त करता है ॥ १३५ ॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलाल सिद्धान्तशास्त्रिणा निरुक्तार्थ पञ्जिकाया हिन्दीभाषायां च सद्वृत्ताधिकारे सल्लेखना वर्णनो नाम षष्ठ परिच्छेदः ।

१-प्रचुराः बहव इति भूयिष्ठा 'भूयिष्ठे' ४।३।१६७ अनेन ष्ठ या-देशः । २-अति पूर्वक शीङ् स्वप्ने धो कः इडागमश्च ।

देश व्रतिकेषु श्रेणीभेदाधिकार· सप्तमः

साम्प्रत योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशङ्क्याह

सम्यग्दर्शन अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और सल्लेखना इन चौदह गुणोंको (व्रतोंको) धारण करनेवाले श्रावकोंके श्रेणि (पद स्थान प्रतिमा भेद) हैं या नहीं ? यदि है वो कितने हैं और उनके चारित्र कैसे हैं ? ऐसा बताते हैं

श्रावकपदानि देवै रेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह, सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ॥

देशितानि प्रतिपादितानि । कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः । कति ? एकादश । कैः ? देवैस्तीर्थंकरै । येषु श्रावकपदेषु खलु स्फुट संतिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति । के ते ? स्वगुणा स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धा गुणा । कैः सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह । कथंभूता ? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देवैः श्रावकपदानि एकादश देशितानि, येषु स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह खलु क्रमविवृद्धा सन्त संतिष्ठन्ते ॥

१—'सद्दर्शन' १०।१३४ श्लोक सम्बन्धे ।
२—'हा गतिनिवृत्तौ'

निरुक्ति० श्रावकस्य पदानि गुणस्थानानि इति श्रावकपदानि । स्वस्य गुणा चारित्राणि स्वगुणा । पूर्वस्य गुणा व्रतानि पूर्वगुणा तै, पूर्वगुणा । क्रमेण विवृद्धा ते क्रमविवृद्धा ।

अर्थ गणधर देवोंने श्रावकोंके ग्यारह पद उपदेशे हैं (बताये हैं) जिसमें अपन अपने पदके चारित्र पूर्वपदके चारित्रोंसे युक्त होते हुये ही क्रमसे बढ़ते हुये (सम्पार-परिपुष्ट होते) रहते हैं ॥ १३६ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह–

उनमेंसे प्रथम दार्शनिक श्रावकका लक्षण कहते हैं–

सम्यग्दर्शनशुद्ध, ससारशरीरभोगनिर्विण्ण । पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य १३७

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति। किंविशिष्ट [1]"सम्यग्दर्शनशुद्ध" सम्यग्दर्शन शुद्ध निरतिचार यस्य अस यनसम्यग्दृष्टि, (इष्टे) कोऽस्य विशेष इत्याह–"ससारशरीरभोगनिर्विण्ण" इत्यनेनास्य लेशतो व्रताशसभवात्ततो विशेष प्रतिपादित । एतदाह तत्त्वपथगृह्य तत्त्वाना व्रताना ९ पन्थानो मार्गा, मद्यादिनिवृत्ति–लक्षणा अष्टमूलगुणास्त गृह्या पक्षा यस्य, पञ्चगुरुचरणशरण पचगुरव पच परमेष्ठिनस्तेषा चरणा शरण मपायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १३७ ॥

[1]"स व्यवधानात् ?।?।२१ अनेन द पदम् । सविष्ट त तत्र्याचारित्राणि सस्थान कुर्वते।

अन्वय सम्यग्दर्शनशुद्ध ससारशरीरभोगनिर्विण्ण पञ्च गुरुचरणशरण तत्त्वपथगृह्य स दर्शनिकः श्रावक भवति ॥१३७॥

निरुक्ति –सम्यग्दर्शनेन शुद्धः स सम्यग्दर्शनशुद्धः । ससारश्च शरीरश्च भोगश्च इति ससारशरीरभोगा । ससारशरीरभोगेभ्य। निर्विण्णो ससारशरीरभोगनिर्विण्ण पञ्च ते गुरव पञ्चगुरवः। पञ्चगुरूणा चरणौ शरण यस्य स पञ्चगुरुचरणशरण । दर्शन विद्यते यस्य स दर्शनिक । तत्त्वस्य चारित्रस्य प था तत्त्वपथ तत्त्वपथस्य गृह्य तत्त्वपथगृह्य ॥

अर्थ जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है ससार शरीर भोग इनसे विरक्त है (अच्छा नहीं समझता है) पञ्चपरमेष्ठीके चरणोंका ही है शरण जिसको और चारित्र मार्गका पक्षस है (चारित्रके अशोंको ग्रहण किये हुये है) सो दार्शनिक श्रावक है (प्रथम पञ्चम है) ॥१३७॥

---

(१) निरपर्वक विद धो स 'ग्रासत्य तो नोऽमत्पमूर्छा" ५।३।८० अनन तस्य नकारादेश । 'रदो" ५।४।१४८ दस्य निरय नकारादेश । पश्चात् ' निर्विण्ण " ५।४।२१ अनेन णकारादेश । "ष्टुना ष्टु "५।४।१३६इति णत्वापि ण । निर्विण्ण एव्य शात्मान रक्षितुकाम ।

(२) दर्शन शील यस्य स दर्शनिक । शाले ठण । दर्शने भक्तिरस्य भक्ति " ३।४।८० "फुराट" ३।३।१८ अन्यथा च ठ,

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह

व्रतिक श्रावकका लक्षण कहते हैं—

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि
धारयते निःशल्यो, योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥

व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः । केषाम् ? व्रतिनां गणधरदेवादीनाम् । योऽसौ ? निःशल्य मिथ्यानिदानमायाशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः सन्, योऽसौ धारयते । किं तत् ? निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि पञ्चाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः ।

अथवा दर्शनं विद्यतेऽस्येति दार्शनिकः । "अतोऽनेकाच" ५।२।११६ इति ठः ।

(१) पूङ् उपादाने ना "पञ्चाऽस्त्रीरिवाह्लादपद्ये पक्षः" २।१।११६ अनेन पद्यार्थे पक्षः स्यात् । तत्त्व मार्गाऽऽगमतपस्विनः पञ्च पन्था मार्गः । तस्य (त्रितयस्य) गृह्यः पक्षः इति तत्त्वपथगृह्य । 'गृह्यः गुदे त्रयभेदः कृपा न्यायानुरे स्विद् । ग्रहासक्तमृगादौ ना त्रिषु चाम्बीरिपक्षयो' इति मेदिनी कथनात् अत्र पद्याम्नि गृह्यगृह्यं स्त्रीलिङ्ग्यत । भावार्थ—जिनेन्द्रदेव सिद्धान्त शास्त्र और दिगम्बर तपस्वी इन तीनोंको उपासकाध्ययनमें तत्त्व कहते हैं और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मार्ग कहते हैं । तत्त्व और पन्थाका (मार्गत्रितयको) ही है पक्ष (तरफदारी) जिसको यह दर्शनिक श्रावक है, इसीका दूसरा नाम पाक्षिक है (तत्त्व मार्गकी—समीचीन चारित्र की है पक्ष प्रवृत्ति—तरफदारी जिसकी ।

॥ केवलमेतदन धारयते अपि ॥ शीलसप्तकं चापि, त्रिप्रकार गुणव्रतचतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम् ॥ १३८ ॥

अन्वय–असौ व्रतिनां व्रतिकः मतः । असौ कः ? यः निःशल्यः सन् निरतिक्रमणमपि अणुव्रतपंचकम् अपि च शीलसप्तकं धारयते ॥

निरुक्ति–निर्गतम् अतिक्रमणं यस्मात्तद् निरतिक्रमणम्, अणुव्रतानां पंचकम् अणुव्रतपंचकम् । शीलानां सप्तकं शीलसप्तकम् । शल्येभ्यो निर्गतः स निःशल्यः ।

अर्थ–इस श्रावकको गणधरदेवोंने व्रतिक (दूसरा पद-धारी) श्रावक माना है । जो शल्यरहित होता हुआ निरतिचार तो पांच अणुव्रतोंको तथा सात शीलोंको धारण करता है ॥१३८॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नस्य श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह–

चतुर्थ श्रावकके आचरणीय आचार बताते हैं—

चतुरावर्त्तत्रितय

श्चतु प्रणाम स्थितो यथाजातः ।

१–कस्य सदाचार सतो" १।४।८० अनेन कर्तरि-कारके ता (षष्ठी) विभक्ती । २–व्रतानि सन्ति तेऽस्येति व्रतिकः । "अतोऽनेकाच" ४।१।७६ इति मत्वर्थे ठ ।

३–"आ मत्यर्थोशीलयादिभ्य च" २।२।१८१ अनेन मनु अवबोधने धो वर्तमानकाले च । असौ व्रतिभिर्व्रतिकोऽवबुध्यते इति वाक्यार्थः ।

**सामयिको द्विनिषद्य
स्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३९॥**

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः । किंविशिष्टः ? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणं' इत्यस्य 'थोस्सामे' इत्यस्य चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति चत्वार आवर्ताः । तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः । स्थितः ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः । यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः । द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः । त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धाः सावद्यव्यापाररहिता यस्य । अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवं शीलः । कथं ? त्रिसन्ध्यम् ॥१३९॥

अन्वय -असौ सामयिकः श्रावकः भवति । असौ कः यः चतुरावर्तत्रितयः चतुःप्रणामः स्थितः, यथाजातः, द्विनिषद्यः, त्रियोगशुद्धः पुनः त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ।

निरुक्ति —चत्वारश्च ते आवर्ताः चतुरावर्ताः । चतुरावर्तानाम् त्रितयो यस्य यस्मिन् वा स चतुरावर्तत्रितयः । चत्वारः प्रणामाः यस्य यस्मिन् वा स चतुःप्रणामः । द्वे निषिद्ये यस्य स

१–समय –आत्मा प्राप्तो यस्य प्रतिक्रस्येति सामयिकः । समयात्प्राप्तात् ।४।४।१२० इति ठञ्

द्विनिषद्य । त्रिभि योगै शुद्ध त्रियोगशुद्ध सम्यग्ध्यायन्ति इति सम्यग् ध्यानं वा सम् गु ध्यायति अस्यां वा सन्ध्या ।

अथवा श्रीप्रभाचन्द्राचार्यटीकाकार "कथं त्रिसन्ध्यम्" इति कथनात् क्रियाविशेषणं प्रतिभाति तदा पद निरुच्यते । सम्-सम्यक् ध्यायते चिन्त्यते ध्यै चिन्तायामिति च सन्ध्यम्-धर्म्यध्यानमित्यर्थ त्रयाणां सन्ध्यानां धर्म्यध्यानानाम् आज्ञापाय-विपाकानां समाहार इति त्रिसन्ध्यम् । पञ्चमगुणस्थाने धर्म्य-ध्यानानि त्रीणि एव । न तु संस्थानविचय, इति सिद्धान्त-कथनात् । श्रीप्रभाचन्द्रकथन "कथं त्रिसन्ध्यमिति" वाक्ययोजना धर्म्यध्यानत्रयं यथाभवति तथा अभिवन्दनशील स्यात् ॥१३९॥

अर्थ—वह सामायिकपदधारी श्रावक होता है (वह कौन ?) जो तीन तीन आवर्तों को चार दफे करता है । चार प्रणाम करता है । खड़ा हुआ, बाह्य आभ्यंतर चिंताओं से रहित यथाजात है, पद्मासन और पद्मासन बैठ कर प्रणाम करे है मन वचन कायके व्यापार शुद्ध है सावद्य रहित है और रत्नत्रयमें एकता करता है और तीन काल समीचीन—तीनों धर्म्य ध्यान होवे उस प्रकार वन्दना भक्ति करता है ॥१३९॥

१—षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु इति धो । निषीद त्यक्त्वा मिति निषद्य "शोणुवि निषन्निषण्णनिषद् मन् पुन्नसमज" २।३।८६ इति सूत्रे क्यप् । सदोऽप्रते ।४।४६। अनेन षत्वम् ।

विशेष – टीकायां च प्रभाचन्द्राचार्यैः "कदा ? त्रिसन्ध्यम्" इति पाठात् न कालवाचकः सन्ध्याशब्द इति प्रतीयते। मन्यते चेत्कालवाचकः तर्हि "कदा त्रिसन्ध्यम्" इति कथ्येत। इति विद्वद्भिर्विचारणीयमिति।

भावार्थ – यह वन्दना कैसे करे ? त्रिसन्ध्यम् तीनों समाधान अथवा तीनों समीचीन ध्यानोंका ध्याना जिसप्रकार होवे उसप्रकार वन्दना करे सो सामायिक धारक है। ऐसा संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र का अभिप्राय मात्र है।

साम्प्रतं प्रोषधोपवासगुणव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह–

चतुर्थ प्रोषधानशन व्रतका आचार बताते हैं।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य
प्रोषधनियमविधायी, प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधानशनकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह – प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशील। क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह– मासे मासे। किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य। किंविशिष्टः ? प्रणिधिपरः एकाग्रतां गतः शुभध्यानरत इत्यर्थः॥ १४०॥

अन्वय, य मासे मासे चतुषु अपि पर्वदिनेषु स्वशक्तिम् अनिगुंह्य प्रणिधिपर सन् प्रोषधनियमविधायी भवति स प्रोषधा नशन श्रावक कथ्यते ॥

निरुक्ति –पर्वाणि दिनानि पर्वदिनानि अथवा पर्वाणि च तानि दिनानि पर्वदिनानि तेषु पर्वदिनेषु । स्वस्य शक्ति स्वशक्ति ताम् । प्रोषधेनेन प्रोषधे वा अनशन इति प्रोषधानशन ॥

अर्थ–जो प्रत्येक महीनेमें चारों पर्वके दिनोंमे अपनी शक्तिको न छिपा कर शुभ ध्यानमे लीन होता हुआ प्रोषधको अथवा प्रोषधके दिन उपवासका नियम पूर्वक अवश्य करता है सो प्रोषधानशन पदका धारी श्रावक ॥ १४० ॥

१–निपूर्वक गुहेस्र सवरणे धो पूर्वकाले क्त्वा क्त्वा-देश । न निगुह्य अनिगुह्य न तिरोधाय ।

२–निपूर्वात् धाञ् धो णी भो क्ति ३।३।८८ अनेन कि स्य । 'नर्गदनदपतपदघुमास्यति यांति वाति द्राति प्साति वपौ वहे शमु चिञ देग्ध गौ' ८।४।१२० इति नै णकारादेश । प्रणिधि –ध्वनाम ध्यान वा तत्र पर लीन । ३–प्रकृष्ट ओषध प्रोषध "तयौ हि पर" ६।१।८९ इति अकार ओकारयो स्थाने पर ओकारादेश । तस्य नियम विदधातीत्येव शील । "शीलेऽजातौ णिन्" २।०।७८ इति णिन् । प्रोषध मदृद्भुक्ति कथनात् १०१८

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

सचित्तविरत पञ्चम श्रावकके व्रतविधान कहते हैं—

मूलफलशाकशाखा करीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः यो नात्ति न भक्षयति । कानीत्याह मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशाकिरणाः कन्दाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति । कथंभूतः सन्? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

अन्वय —यः आमानि मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि न अत्ति सोऽयं दयामूर्तिः सचित्तविरतः श्रावको भवति ॥

निरुक्ति—मूलं च फलं च शाखा च शाकं च करीरश्च कन्दश्च प्रसूनं च बीजं च इति मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि । सचित्तेभ्यो विरतः सचित्तविरतः । दया एव मूर्तिर्यस्यासौ दयामूर्तिः ॥

अर्थ-जो कच्चे मूल फल शाक शाखा करीर (कोपल) कन्द प्रसून पुष्प और बीजोंको नहीं खाता है वह दयामूर्ति सचित्तविरत पद वाला श्रावक होता है ॥१४१॥

अर्थात्-वनस्पति और जल ये दो ही वस्तु सदाचारी पुरुषोंके भक्ष्य हैं। वनस्पतिके अंग आठ होते हैं, मूल १

कन्द २ शाखा ३ करीर (कोंपल) ४ शाक (पत्ते) ५ पुष्प ६ फल ७ बीज ८। इनमेंसे किसीके तीन-चार पाच ही (आदि) अग होते हैं, इन वनस्पतिके किसी भी अगको जो कच्चा हो पका न हो उसे नहीं खाते हैं तथा सचित्त जल और लवणको भी नहीं खाते हैं इनको अग्नि आदिसे पका कर कूटकर पीसकर या उसमे तीक्ष्ण क्षार आदि मिलाकर खाता है।

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुण श्रावकस्य व्याचक्षाण प्राह—

६। रात्रिभुक्तिविरत श्रावकके आचारणीय व्रत कहते हैं—

अन्न पान खाद्य, लेह्य नाश्नाति यो विभावर्याम्
स च रात्रिभुक्तिविरत , सत्त्वेष्वनुकम्पमानमना

स च श्रावको रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते यो विभावर्यां रात्रौ नाश्नाति न भुक्ते। किं तदित्याह—अन्नमित्यादि, अन्न भक्तमुद्गादि, पान द्राक्षादि पानक, खाद्य मोदकादि, लेह्य रबड्य र-बन्यादि। किंविशिष्ट [१] अनुकम्पमानमना सकरुणहृदय। केषु [२] सत्त्वेषु प्राणिषु ॥ १४२ ॥

अन्वय य सत्वेषु अनुकम्पमानमना सन् विभावर्याम् अन्न

(१) अनुपूर्वक कम्पिड, [illegible] ३।३।१३ शान: स्या। "आने मुक्" ५।३। [illegible]

(२) अद भक्षणे धो: [illegible]

।३।७० इति

पान खाद्य लेह्य न अश्नाति स च रात्रिभुक्तिविरतः श्रावकः भवति ॥

निरुक्ति[1]- रात्रौ भुक्ति रात्रिभुक्तिः, रात्रिभुक्तेः विरत इति रात्रिभुक्तिविरत, अनुकम्पमानम् मनो यस्य स अनुकम्पमानमनाः॥

अर्थ–जो जीवोंपर दयायुक्त मनवाला होता हुआ रात्रिमे अन्न पेय खाद्य लेह्य पदार्थोंको नहीं खाता वही रात्रिभुक्तिविरत पद वाला श्रावक है ॥१४२॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह–

अब अब्रह्मविरति नामक सप्तम श्रावकके चरित्र बताते हैं।

मलवीज मलयोनिं,गलन्मल पूतिगन्धि बीभत्सम्
पश्यन्नङ्गमनङ्गा द्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन्? पश्यन्। किं तत्? अङ्ग शरीरं। कथंभूतमित्याह-मलेत्यादि मल शुक्रशोणित बीज कारण यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनि कारण। गलन्मल गलत् स्रवत् मलो मूत्रपुरीष-स्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगन्धि दुर्गन्धोपेत। बीभत्स सर्वान् यतेषु पश्यता बीभत्सभावोत्पादकम् ॥१४३॥

अन्वय –यः कामांगम् मलबीजम्, मलयोनिम्, गलन्मलम्,

(१) अश भोजने लति काले लट्। तिङ्च 'क्र्यादि श्ना' २।१।६५ इति श्ना। स अश्नाति–अ अशि–न–मुडके।

समझ कर कामसे (मैथुनसे) विरक्त हो जाता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥१४३॥

इदानीमारम्भनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

आरम्भत्यागी श्रावकके आचरण कहते हैं—

सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतो र्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतो व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति। कस्मात्?[2] आरम्भतः। कथंभूतात्?[3] सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्यानि प्रमुखानि आद्यानि यस्य तस्मात्। कथंभूतात्?[1] प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात्। अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारम्भादुपरतिर्निराकृता। तस्याः प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्सम्भवात्। वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा सम्भवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तगुणसम्पन्नतोपपत्तेः ॥१४४॥

अन्वय—यः प्राणातिपातहेतोः सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्

१—प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणाः, प्रपूर्वक अन प्राणने अच् घञ् वा। २—वणिजां कर्म वाणिज्यम् 'भेदनादि-भ्यष्यञ्' धानां ८ इति स्मरण।

आरम्भतो व्युपारमति असौ आरम्भविनिवृत्त श्रावक कथ्यते ॥

निरुक्ति–सेवा च कृषिश्च वाणिज्य चेति सेवाकृषिवाणिज्यानि। सेवाकृषिवाणिज्यानि प्रमुखा आद्या यस्य तत् सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखम्, तस्मात्। प्राणानाम अतिपात इति प्राणातिपात तस्य हेतु इति प्राणातिपातहेतु तस्मात्। आरम्भेभ्य विनिवृत्त इति आरम्भविनिवृत्त ॥

अर्थ–जो हिंसाके साधक हिंसाके कारणभूत एव सेवाकर्म कृषिकर्म और वाणिज्यकर्म हैं मुख्य जिनमे ऐसे छहों प्रकारके व्यापारोंका त्याग कर दे वह आरम्भनिवृत्ति पदका धारक श्रावक कहा जाता है ॥१४४।

अधुना परिग्रहनिवृत्तगुण श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह–

परिग्रह त्याग श्रावकका आचरण बताते हैं–

बाह्येषु दशसु वस्तुषु,ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरत
स्वस्थ. सन्तोषपर , परिचित्तपरिग्रहाद्विरत ॥

१–रमुट धा 'उपात्' ।७।१६ इति मध (परस्मैपदम्)।

२–निपूर्वक वृतु वर्तने धा तु ।

३–असि १ मसि २ कृषि ३ सेवा ४ शिल्प ५ और वाणिज्य ६ इनके तथा इनके भेद प्रभेदरूप व्याज शेयरहोल्डर मकानकिराया आदिसे द्रव्यका उपार्जन करना, बढ़ाना अथात्

थावक मूल पूंजीका (सचित द्रव्यका) खर्च करता है

[illegible] भी उपायसे

परिसमन्तात् चित्तस्य परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्मा-
द्विरत आश्रवो भवति । किंविशिष्ट सन् ? स्वस्थो मायादिरहित ।
तथा सतोषपर परिग्रहाकांक्षाव्यावृत्त्या सतुष्ट । तथा निर्ममत्वरत ।
किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य । किं तत् ? ममत्व मूर्छा । क्व ? बा
ह्येषु दशसु वस्तुषु । एतदेव दशधा परिगणन बाह्यवस्तूनां दर्श्यते ।

क्षेत्र वास्तु धन धान्य द्विपद च चतुष्पदम् ।
शयनासन च यान कुप्य भाण्डमिति दश ॥

क्षेत्र सस्याधिकरण बडालिकादि (डोहलिकादि) वास्तु
गृहादि । धन सुवर्णादि । धान्य ब्रीह्यादि । द्विपद दासीदासादि ।
चतुष्पद गवादि । शयन खट्वादि । आसन विष्टरादि । यान
डोलिकादि । कुप्य क्षौमकार्पासकौशेयकादि । भाण्ड श्रीखण्ड
मञ्जिष्ठाकांस्यताम्रादि ॥ १४५ ॥

अन्वय.-य बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वम् उत्सृज्य निर्मम
त्वरत सन् स्वस्थ च सतोषपर भवति स परिचित्तपरिग्रहाद्
विरत आश्रव भवति ॥

निरुक्ति मम इत्यस्य भावो ममत्वम् । निर्गत ममत्वम् यस्मात्

१—भाण्डशब्दोऽत्र मूल्यवणिग्धनवाचकोऽपि प्रतीयते ।
भाण्ड भूषणवणिग्वित्ते तुरङ्गाणा च मण्डने, नदीकूलद्वयोमध्ये
भूषणे भाजनेऽपि च (इति हेम) स्याद्भाण्डमश्वाभरणेऽमत्रे मूल
वणिग्धने, इत्यमरः । भाण्ड पात्रे वणिङ्मूलधने भूषाश्वभूषयोरिति
मेदिनी । २-बडिशाया वाटिकानि । ३-चिनी सक्षाने इति धो "त '

तद् निर्ममत्वम्। निर्ममत्वे रतः निर्ममत्वरतः। स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः। सन्तोषे परः तत्परः इति सन्तोषपरः। परिचित्त च परिग्रह इति परिचित्तपरिग्रहः तस्मात् ॥

अथ जो बाह्य दश प्रकारके परिग्रहोंमें ममताको छोड़ निर्ममतामें रत होता हुआ आत्मामें लीन और सन्तोषमें तत्पर है, सो परिचित्तपरिग्रहविरत श्रावक है ॥१४५॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह —

अनुमति विरत श्रावकोंका वर्णन करते हैं—

अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः। यस्य खलु स्फुटं नास्ति। कासौ? अनुमतिरभ्युपगमः। क्व? आरम्भे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धनधान्यादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः? समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥ १४६ ॥

अन्वय —यस्य खलु आरम्भे अनुमतिः नास्ति वा परिग्रहे खलु

राग ।१०० इति च पुनः इच्छावृद्धिः उदय्या इति ।१।१२६ अनेन नेट चित्त मत इत्यर्थः। निरत परि-भूत (स्थित) परिचित्तान् परपरिग्रहविरत ।१०।१३० इति दृस। निरतस्य मनोभव परिग्रहे मुर्छा रतः निरत स्थित निरत।

१— अनुप्रहण मनुष्योऽयमधो च। 'इ म ययम्मूलम्-

परिग्रहे अनुमति नास्ति वा यस्य खलु एहिकेषु कर्मसु अनुमति नास्ति स अनुमतिविरत मन्तव्य, कथम्भूत स ? समधी ॥

निरुक्ति - इह (लोके) भवा ऐहिका तेषु ऐहिकेषु । समा धी बुद्धि यस्य स समधी । अनुमत्या विरत इति अनुमतिविरत ॥

अर्थ—जिसकी कृषि आदि षट् कर्मोंमें अनुमति (अनुज्ञा) नहीं है, जिसकी परिग्रह वगैरहमें अनुमति नहीं है, जिसकी ऐहलौकिक विवाह आदिमें-पचसूनादिकाम अनुमति (स्वीकृति) नहीं है, सो अनुमतिविरत श्रावक है। कैसा है वह श्रावक ? राग द्वेष रहित है बुद्धि (कृति ?ादा) जिसकी ॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्व श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

अब उद्दिष्टविरतनामक ११वें श्रावक पदका कर्तव्य बताते हैं।

गम्वनतितनादेर्ष ध क्रुलि ' ४।४।३९ इति नत्वम्। अनुमति अनुज्ञा स्वीकृतिरित्यर्थ २ अस्मिन्निति इह। 'इदमोह'' ५।३।१८ अनेन हत् त्य। हलि लम् ।।१।१८७ अनेन इद लम इह (अस्मिन्) लोके भवा ऐहिका इह लोकाय हितानि इहलोके प्राप्तानि वा ऐहिकानि। तेषु।

न तु पारलौकिकेषु ... यन्ते तानि कर्माणि, पाकादीनि वा। ... त्य।

गृहतो मुनिवनमित्वा,गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।१४७।

उत्कृष्ट उद्दिष्टविनिवृत्तएकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति । कथंभूत ? चेलखण्डधर कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारक आर्य लिंगधारीत्यर्थ , तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्य तदश्नातीति भैक्ष्याशन , किं कुर्वन् ? तपस्यन् तप कुर्वन् । किं कृत्वा परिगृह्य गृहीत्वा । कानि ? व्रतानि । क्व ? गुरूपकण्ठे गुरु समीप । किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा । किं तत् ? मुनिवन मुन्याश्रम कस्मात् ? गृहत ॥१४७॥

अन्वय –श्रावक गृहतो मुनिवनम् इत्वा गुरूपकण्ठ व्रतानि परिगृह्य तपस्यन् स उत्कृष्ट श्रावक, भवति कथभूत श्रावक ? भैक्ष्याशन , पुन चेलखण्डधर ॥

निरुक्ति –मुनीनां वनम् आश्रमम् इति मुनिवनम्, गुरूणाम् उपकण्ठ इति गुरूपकण्ठ तस्मिन् । भिक्षाणाम् समूहो भैक्ष्यम् स एव अशन यस्य स भैक्ष्याशन । चेलस्य खण्ड धरतीति चेलखण्डधर

अर्थ—जो अपने घरको छोड़कर मुनि आश्रमम जा कर गुरुके समीप व्रतोंको धारण कर तप करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है। कैसा है वह श्रावक ? भिक्षा ही है भोजन जिसका तथा बिना सिला हुआ खण्ड वस्त्रको पहनता है॥१४७

तप॰ कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेव मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह,–

जो तपस्वी-उद्दिष्टविरति उत्कृष्ट अणुव्रती आगमको जानता हुआ ही ऐसी मान्यता—निश्चय कर लेता है तब ही वह उत्कृष्ट सुखका ज्ञाता (भोक्ता) होगा ऐसा बताते हैं।

पापमरातिर्धर्मो,बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते,श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति*१४८

यदि समयम् आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन्? निश्चिन्वन्। कथमित्याह पापमित्यादि—पापमधर्मो ऽरातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात्, धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन्।

अन्वय—जीवस्य अरातिः पापम् जीवस्य बन्धुः धर्मः इति निश्चिन्वन् सन् यदि समयं जानीते तदा स ध्रुवम् श्रेयो ज्ञाता भवति॥

अर्थ—जीवका शत्रु पाप कर्म ही है अन्य कोई भी नहीं

---

* समयं यदि जानाति, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भविता। ऐसा पाठ ठीक ज्ञात होता है अतः सो गमार है परन्तु संस्कृत टीकामें जानीते आगमज्ञो यदि भवति ऐसा पाठ है सो विचारणीय है।

सम्भावना अर्थ होनेपर 'यदि' अव्ययका प्रयोग होवे तो लिङ् होता है "जातुयद्युपदायदौ लिङ्" २।३।१३८ ऐसा जैनेन्द्र व्याकरण सूत्रके नियमसे।

गृहतो मुनिवनमित्वा,गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्षाशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।१४७।

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति। कथंभूत? चेलखण्डधरः कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्य लिंगधारीत्यर्थ, तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्य तदश्नातीति भैक्ष्याशनः। किं कुर्वन्? तपस्यन् तपः कुर्वन्। किं कृत्वा परिगृह्य गृहीत्वा। कानि? व्रतानि। क्व? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे। किं कृत्वा? इत्वा गत्वा। किं तत्? मुनिवन मुन्याश्रमं कस्मात्? गृहतः ॥१४७॥

अन्वय –श्रावकः गृहतो मुनिवनम् इत्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य तपस्यन् स उत्कृष्टः श्रावकः भवति कथंभूतः श्रावकः? भैक्ष्याशनः, पुनः चेलखण्डधरः ॥

निरुक्ति–मुनीनां वनम् आश्रमम् इति मुनिवनम्, गुरूणाम् उपकण्ठ इति गुरूपकण्ठं तस्मिन्। भिक्षाणाम् समूहो भैक्ष्यम् स एव अशनं यस्य स भैक्ष्याशनः। चेलस्य खण्ड धरतीति चेलखण्डधरः

अर्थ—जो अपने घरको छोड़कर मुनि आश्रमम जाकर गुरुके समीप व्रतोंको धारण कर तप करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है। कैसा है वह श्रावक? भिक्षा ही है भोजन जिसका तथा बिना सिला हुआ खण्ड वस्त्रको पहनता है॥१४७

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेव मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह,–

जो तपस्वी—उद्दिष्टविरति उत्कृष्ट अणुव्रती आगमको जानता हुआ ही एसी मान्यता—निश्चय कर लेता है तब ही वह उत्कृष्ट सुखका ज्ञाता (भोक्ता) होगा एसा बताते हैं।

पापमरातिर्धर्मो,बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते,श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति*१४८

यदि समयम् आगम जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुव निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन्? निश्चिन्वन्। कथमित्याह पापमित्यादि—पापमधर्मो ऽरातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन्।

अन्वय—जीवस्य अराति पापम् जीवस्य बन्धु धर्मः इति निश्चिन्वन् सन् यदि समयं जानीते तदा स ध्रुवम् श्रेयो ज्ञाता भवति॥

अर्थ—जीवका शत्रु पाप कर्म ही है अन्य कोई भी नहीं

---

* समयं यदि जानीत, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भविता। ऐसा पाठ ठीक ज्ञात होता है अर्थ भी गंभीर है परन्तु संस्कृत टीकामें जानीते आगमज्ञो यदि भवति ऐसा पाठ है सो विचारणीय है।

सम्भावना अर्थ होनेपर "यदि" अव्ययका प्रयोग होवे तो लिङ् होता है 'जातुयद्यदायदौ लिङ्' २।३।१३८ ऐसा जैनेन्द्र व्याकरण सूत्रके नियमसे।

है तथा जीवका मित्र रत्नत्रयधर्म ही है दूसरा कोई नहीं है ऐसा निर्णय करता हुवा जब आचरणोंका प्रादुर्भाव (उत्पन्न) करता (कर लेता) है तब वह श्रावक अवश्यमेव अत्यन्त प्रशसनीय कल्याणोंको उत्पन्न करता (कर लेता) है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और सल्लेखना व्रतको आचरण करता है वह अवश्यमेव स्वल्प भवोंमें ही क्षायिक अनन्त सुखोंको भोगता है।

अथवा— उत्तम श्रावक तपस्वी होता हुवा आगम-समय भेदज्ञानको और उनके उपायोंको बतानेवाले शास्त्रोंको जान लेता है और वह भी निश्चय निर्णय कर लेता है कि "जीवका शत्रु पाप है—पापाश्रव है और पापोदय ही है तथा जीवका उपकारी मगोत्र भ्राताके समान धर्म ही, है तब ही वह प्रशसनीय निश्चल स्वरूपका ज्ञाता अवश्य हो जाता है। उत्कृष्ट उद्दिष्ट त्यागी वानप्रस्थ आश्रममें है वह तपस्वी भी है किंतु स्वभावो विभावोंको तथा आत्मा को नहीं जानता है तो वह कल्याणोंका ज्ञाता भोक्ता नहीं होता। अतएव वानप्रस्थोंको कषायादि विभावोंको बताने वाले गोमट्टसार धवल जयधवल जैसे ग्रंथोंको तथा स्वभाव पर्यायोंका निर्णय करानेवाले आत्मख्याति समयसार जैसे आगमोंको जीव और आत्माके स्वरूपको बतानेवाले मोक्षशास्त्र सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिक लघीयस्त्रयी सर्वज्ञसिद्धि जैसे ग्रंथोंका तथा कषायादि विभावों-

से भिन्न करनेवाले उपायोंको बतानेवाले रत्नकरण्डश्रा वकाचार मूलाचार अपराजिता भगवती आराधनासार और इन सबके आदर्श उदाहरण बतानेवाले महापुराण (आदिपुराण उत्तरपुराण) आदि इन दिगम्बर जैन ऋषि प्रणीत—आर्ष आगमोंका अध्यापन (वाचना) प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेशोंसे कषायोंको घटाकर समाधि राग द्वेषस शून्य भावोंका साधक जो यही रत्न त्रय धर्म है ससार पर्यायोंसे निकाल कर उत्तम सुखमे धारण करता है और वही निवाः श्रेयो माग है ।

यह समस्त ग्यारह प्रकारके अणुव्रतियोंको तथा मुख्य-तासे ग्यारहवी प्रतिमावाले वानप्रस्थोंको बताया है ।

इदानी शास्त्रानुष्ठातु फल दर्शयन्नाह,—

इस शास्त्र में बताये हुवे साधनोंका जो आचरण करता है उसका क्या फल होता है ? सो बताते है—

येन स्वय वीतकलङ्कविद्या
दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव,
सर्वार्थसिद्धिस्त्रिपु विष्टपेपु ॥ १४९ ॥

येन भव्येन स्वयम् आत्मा ....

प्रापित । कमित्याह वीतेत्यादि, विशेष इतो गतो नष्टः कलङ्को दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभाव तं भव्यम् आयाति आगच्छति । कासौ ? सर्वार्थसिद्धि धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री । कयेवायाति ? पतीच्छयेव स्वयम्वरविधानेच्छयेव । क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥

अन्वय येन आत्मना स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रिया रत्नकरण्डभाव नीत तम् सर्वार्थसिद्धि त्रिषु विष्टपेषु पती च्छया इव आयाति ॥

१–जो स्वयम् दूसरेको प्रेरणाके विना वर ग्राहक (इच्छुका) होवे उस विधानको स्वयम्वर विधान कहते हैं। अर्थात् जो भव्य मुक्तिश्रीके साथ अनन्त अविनश्वर परम सुखमय अद्वैत होना चाहते हैं प्रयत्न कर रहे हैं उनको ही सर्वार्थसिद्धि विवाहित हो जाती है। अन्योंके साथ नहीं।

२—स्वयमिति क्रियाविशेषणपदम्-आत्मा।

३—विशेषेण इत गत इति वीत । वि + इण गतौ क्त । अथवा वीत क्षिप्त । अज क्षेपणे च क्त । वी आदेशश्च।

४—णिञ प्रापणे क्त । 'धिगमयर्थ वहनोहो ण्यपजिदण्डे कर्मणि लादि" २।४।८६। अनेन मुख्यकर्मणि क्त ।

५–पति विधातुमिच्छया हेतुना आयाति । अत्र 'हेतौ' १।४।३६ अनेन भा विभक्तो । इष इच्छायां धो "मृगयेच्छायाच्-स्वा" २।३।१०४ इति श त्य । ऐषणम् इच्छा वाञ्छा । पति प्राप्तुं वाञ्छया, पति समवेतुमुद्देशेन चेत्यर्थ ।

६–आङ् पूर्वक या प्रापणे धो उर् तिप्। "हृ यादेदनुप्" इति शप उप्। आगच्छतीत्यर्थ ।

निरुक्ति—विद्या च दृष्टिश्च क्रिया च इति विद्यादृष्टिक्रियाः वीता कलङ्केभ्य ता वीतकलङ्का । वीतकलङ्काश्च ताः विद्यादृष्टिक्रियाः ता वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियाः, वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रिया एव रत्नानि इति वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नानि । तेषाम् करण्डमिव करण्डम् इति वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डम् तस्य भाव तया तम् वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् । पत्यु इच्छा पतीच्छा तया पतीच्छया । सर्वे च ते अर्था सर्वार्था सर्वार्थानाम् सिद्धिरिति सर्वार्थसिद्धि । मोक्षपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थ ।

अर्थ—जिस श्रावकने अपनेको ज्ञान दर्शनचारित्र रूपी रत्नोंका पिटारा बनाया है उसको सर्वार्थसिद्धि सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि तीन लोकमें सर्वत्र पतिके समान इष्ट मानती हुई प्राप्त होती है ॥१४९॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिं गता सा एतदेव कुर्यादित्याह,—

श्रीसमन्तभद्रस्वामी अपनी प्रिय भावना "कि इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारको बनाते हुवे सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति मेरे बढ़ी है वह इतना काम करे ऐसा" स्वयं दर्शाते हैं।

सुखयतु सुखभूमि कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मा शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी ॥

मा सुखयतु सुखिनं करोतु। कामौ ? दृष्टिलक्ष्मी सम्यग्दर्शन सम्पत्ति। किंविशिष्टेत्यह जिनेत्यादि, जिनाना देशन कर्मोन्मूल काना गणधरदेवादीना पतयस्तार्थंकरास्तेषा पदानि सुबन्तमिड न्तानि पदा वा ता येत्र पद्मानि तानि प्रेक्षने श्रद्धातीत्येव शीला। अयमर्थ –लक्ष्मी पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनो क्तपदपदार्थप्रक्षणशीलेति। क भूता सा ? सुखभूमि। सुखोत्पत्ति-स्थान। क केव ? कामिन कामिनीव यथा कामिनी कामभूमि कामिन सुखयति तथा मा दृष्टिलक्ष्मी सुखयतु। तथा सा मा भुनक्तु रक्षतु। केव ? सुतमिव जननी। किंविशिष्टा ? शुद्धशाला जननी हि शुद्धशीला सुत रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी। दृष्टि लक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षणा शुद्धसमशीलसमन्विता मा भुनक्तु। तथा सा मा मम्पुनीतात् सकलदोषाकलङ्क निराकृत्य पवित्रयतु। किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका। अयमर्थ कुल यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यता नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा सम्यग्नगुणैरलङ्कृता मा मम्यक्पुनीतादिति ॥ १५० ॥

येनाज्ञानतमो निरस्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
सप्तम परिच्छेद ।

अन्वय — दृष्टिलक्ष्मी माम् सुखयतु । का कमिव ? कामिनी कामिनम् इव । किम्भूता दृष्टिलक्ष्मी ? किम्भूता च कामिनी ? सुखभूमि । दृष्टिलक्ष्मी माम् पुनातु । का कमिव ? जननी सुतमिव । कथम्भूता जननी वा दृष्टिलक्ष्मी ? शुद्धशीला । दृष्टिलक्ष्मी मा सम्पुनातात् । का किमिव ? कं यशः कुर्वेदिव । कीदृशी दृष्टिलक्ष्मी या च यशः ? गुणभूषा । पुनः कीदृशी च दृष्टिलक्ष्मी ? जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी ।

निरुक्ति —सुखस्य भूमि सुखभूमि सुखस्चासौ भूमिश्च वा । शुद्धं शीलम् यस्या सा शुद्धशीला । गुणैः भूष्यते या सा गुणभूषा, अथवा गुणा एव भूषा यस्या सा गुणभूषा । जिनानां पति जिनपति जिनपतेः पदे चरणौ जिनपतिपदौ, जिनपतिपदौ इव पद्मौ इति

१–सुखं करोतु इति सुखयतु–सुखादिभ्यो णिङ् बहुलम् । ३।१।२८ अनेन करोत्यर्थे णिङ् ।

२–भुजो रक्षाऽन्नयोरिति रुधादेः घो "लोट्" ३।३।१५३ अनेन प्रार्थनार्थे लोट्, भुजोऽन्ये "१।३।७३ अस्मिन् सूत्रे 'अन्ने'" इति अपालनार्थे पर द भवति पालने तु मम् भुनक्तु पालयताम् पात्यतु इत्यर्थः ।

३–सम्पूर्वात् पुञ् पवने धो "कयादेः श्ना" ३।१।८१ श्ना

के प्रत्येक पद प्रयोजनीभूत और अपने अपने रहस्योंके बतानेवाले हैं। यदि एक भी वाक्य या पद निकाल दिया जावे तो उसमें व्यर्थता आ जावेगी। क्योंकि ये कारिका सूत्ररूप हैं।

सूत्रका लक्षण श्रीजयधवलमें इसप्रकार है कि जिसमें अक्षर तो स्वल्प हों और अर्थ गंभीर हो निःसन्देह सार (सार) को बतानेवाला गूढ अथवा निर्णय जिसमें होता हो, अपशब्द आदि तथा व्याकरण छन्द और साहित्यके विरुद्ध जो दोष हैं उनसे रहित हो जितना कथन हो वह हेतुपूर्वक प्रयोजनीभूत हो जिसमें कोई भी बात अहितकारी और झूठा न हो उन गद्य या पद्य वाक्योंको बुद्धिमान् आचार्य सूत्र कहते हैं।

सो यह सूत्र लक्षणमात्र इसकी प्रत्येक कारिकाओंमें विद्यमान है। अतएव समस्त श्रावकाचारोंमें या उनकी टीकाओंमें इसकी कारिकाओंको उद्धृत कर ग्रन्थाचार्योंने साक्षीमें दी है।

उनका हृदयगम संगति इसप्रकार है।

प्रथम कारिकामें श्री १००८ वर्धमान नामा कर अर्हन्तदेवको नमस्कार कर श्री समन्तभद्र स्वामीने अपना लक्ष्य बताया है। उनके जो विशेषण बताये हैं उनमें उनका बताई हुई ज्ञानविद्या हमारे लिये हितकारी है क्योंकि उसी उपासकाध्ययन विद्यामें यह ग्रन्थ रचा है।

---

* अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारव[illegible]
निर्दोषं [illegible]

२—जितने प्राणी हैं वे सब सुखको निरंतर चाहते हैं कि हमारा सुख हममें निरंतर रहे। उसी स्वाभाविक सुखको जो स्थापित करता है वह धर्म है उसी धर्मका इसमें कथन है।

आगे उस धर्मके स्वरूप में सम्यग्दर्शनादिक ही हैं। अन्य मिथ्यादर्शनादिक नहीं हैं ऐसा बताया है अनन्तर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताकर आप्त सर्वज्ञदेवका विशिष्ट असाधारण लक्षण कहा है।

जिसके क्षुधा पिपासा आदि दोष हैं (खाने पानेकी इच्छा है) वहां आप्त हो सकता। ऐसे वर्धमान जैसे तीर्थङ्कर सर्वज्ञ ही आप्त हैं। अन्य ब्रह्मा विष्णु महेश और बुद्ध पैगम्बर जैसे नहीं हो सकते। क्योंकि इनमें क्षुधा व्याप्त है।

आठमी कारिकामें आगम (जिनशासनकी उत्पत्ति) का स्वरूप और ९ मी में उस आगमका लक्षण बताकर १० मी में तपस्वी गुरुका स्वरूप कहा है।

अनन्तर सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका वर्णन आठ कारिकाओंमें है। जिनमें प्रथम "इदमेवेदृशमेवेन*" इत्यादि निःशङ्कित अंगका स्वरूप है।

* बहुतसी प्रसिद्ध पुस्तकोंमें "इदमेवेदृशमेव" ऐसा पाठ है वह सदोष है। प्रथम तो छन्दो दोष है। क्योंकि श्लोकका छठा अक्षर गुरू होना चाहिये। दूसरे अर्थदूषण है कि "तत्त्व नहीं है इसी प्रकार है।" ऐसा न कह कर ऐसा कहना उत्तम है कि तत्त्व यही है और ऐसे ही है। इसलिये "च" पद और है। जैसे आगे दूसरे पादमें "तत्त्व नान्यथा चान्यथा" में न (नकार)

आगे निःकांक्षितादिका वर्णन कर १९-२०मी कारिकामें उन लोकप्रसिद्ध पुरुषोंमेंसे एक-एक नाम बताया गया है जिन्होंने निश्शङ्कित आदि अंगमें उत्तीर्णता प्राप्त की है। कोई ऐसा न समझे कि एक या दो तीन आदि अंगके होनेसे भी सम्यग्दर्शन कार्यकारी (सफल) होता होगा ? इस शंकाको दूर करनेके लिये २१ मी कारिका बताया है। "यदि एक भी अंग न्यून होगा तो वह सम्यग्दर्शन सांसारिक दुःखोंका (जन्म मरण आदि वेदनाओंका) घातक नहीं हो सकता" ऐसा वर्णन है। अनन्तर २२मी कारिकासे लेकर तीन कारिकाओंमें तीन मूढ़ता भावोंका वर्णन है। अर्थात् देवादिकों का लौकिक-पारलौकिक और देवताओंका उपासना करनेसे सम्यग्दर्शनमें सदोषता प्राप्त होता है। इत्यादि कथन कर मूढ़त्व भावोंसे सम्यग्दर्शनको सुरक्षित रखने ऐसा उपदेश है।

आगे मदका लक्षण भेद और इससे क्या दोष होते हैं ऐसा बताकर उसके दूर करनेका उपाय बताया है कि यदि कर्मबन्धजनित संपदा हमारे निरंतर बनी रहेगी ? या पापासवोंके उदय होनेसे ही नष्ट हो जायगी इत्यादि मनन कर पुरुषोंके पुराण तथा चरित्रोंको पढ़ कर सुन कर मननकर सधर्मीओंको तिरस्कार करनेके लिये कदाचित् भी अपना महत्व न दिखावे, किन्तु ऐसा विचारे, जो कि २८मी कारिकामें बताया है कि सम्यग्दर्शन जीव

के आगे 'च' अव्ययपद और है। जिससे अर्थमें गम्भीरता-सुन्दरता-पूर्णता आ जाती है। "इहमेवेदृशमेव" ऐसा पाठ शुद्ध है इससे ऐसा ही पढ़ना चाहिये।

का स्वाभाविक गुण है। यह पापकर्मके फलको भोगनेवाले नारक शरीर तथा पशुपक्षियोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुये प्राणियोंके समान पापप्रकृतियोंके उदयजनित असत्कृत अथवा कुसंस्कृत पतित जातियोंमें उत्पन्न हुये मनुष्योंमें भी करणलब्धिरूप निमित्तसे दर्शनमोहनीयका उपशम क्षयोपशम (क्षय) होता है परन्तु वे हीन-जाती शरीरधारी होनेसे ऐसे हैं जैसे राखमें दबा हुआ (पड़ा हुआ) अंगारा-देदीप्यमान नहीं है तो भी पर्याय पलटनेपर उत्तम शरीरको पाकर देदीप्यमान अवश्य होना है, इसलिये भाविनो आगम द्रव्यनिक्षेप कर यह आत्मा पूज्य है, स्वल्प कालमें ही मुक्तात्मा होगा अवश्य होगा ही" इसमें यह जीव प्रशंसनीय है, किन्तु उस नीच शरीराश्रित होनेसे तो वर्तमानमें नीच ही है।

कोई प्राणी पुण्योदयसे उत्तम जातिमें उत्तम लोकपूज्य गोत्रमें उत्पन्न हुये शरीरमें स्थित होने पर भी मिथ्यात्व मोहनीयके उदयजनित परिणामोंसे होनेसे यह जीवात्मा पूज्य समीचीन—प्रशंसनीय नहीं है जैसे उत्तम पात्रमें रक्खा हुआ विषमिश्रित दुग्ध। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम जात्यादिकों-को पाकर उन सधर्मा पुरुषोंका अपमान नहीं करता। यह विचारता है सम्यग्दृष्टि भी नारक शरीर धारण करते हैं और मिथ्यादृष्टि भी देवता बनते हैं। तथा भील चाण्डालोंके रज वीर्यसे बने हुये शरीरके धारण करनेवाले जीव सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्कर होते हैं इसप्रकार नेमिनाथपुराण हरिवंशपुराण आदिमें बताये हुए श्रीनेमिनाथ स्वामीका पूर्व भवावलि आदिको विचार कर जात्यादिकोंका मद नहीं करता।

किन्तु इतना अवश्य जानता और मानता है कि पतित-हीन जातिवाला महाव्रतोंको तथा उत्तम अणुव्रतोंको भी नहीं धारण कर सकता।

वर्तमान अवस्थाको ही मत देखो भविष्य भी देखो। क्योंकि समीचीन धर्मके निमित्तसे श्वान भी नीच पर्यायको (शरीरको) छोड़ कर देवपर्यायको पाता है और अधर्मके (मिथ्यात्वके) निमित्तसे देव भी श्वान जैसे नीच शरीरको पाता है।

इससे यह निर्णय होता है कि जिसप्रकार केवल पात्र की (आधारकी) नीचता उच्चता (सुन्दरता या भद्दापन) होनेसे औषधिका परिमाण (मूल्य) नहीं है किन्तु उसके उपादान की मुख्यतासे ही मूल्य होता है। इसीप्रकार आत्माकी पूज्यता अपूज्यता केवल शरीरादि आधारोंकी अपेक्षासे नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी मुख्यतासे है। किन्तु गौणता-से द्रव्य क्षेत्र काल और भाव भी साधक हैं। मनुष्य पर्याय का शरीर ही मोक्षमार्ग (मोक्षसाधक) है अन्य नहीं। उसमें भी उत्तम जाति कुलमें उत्पन्न हुआ मनुष्यशरीर ही मोक्षका साधक है अन्य पतित जातिमका नहीं।

इसीप्रकार भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुवे ही शरीर मोक्षसाधक हैं अन्य क्षेत्रों में उत्पन्न हुवे नहीं हैं। दुषमासुषमा काल ही यहां मोक्ष साधक है अन्य नहीं। रत्नत्रय भाव ही मोक्ष साधक है अन्य विभाव भाव नहीं।

* हुण्डावसर्पिणी कालके निमित्त कर भी कालमें विशेषता जैसे श्रीऋषभदेव भगवान सुषमादुषमा कालके अन्त तान

इसप्रकार मूढता और मदोंसे रहित गुणाढ्य सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर उसमें म्लानता (शुष्कता) नहीं आवे इसलिये कुदेवों (बौद्ध आदि पैगंबरों) को तथा इनके उपदेशे हुवे गीता रामायण कुरान पुराण बाइबिल आदि शास्त्रोंको तथा उनके बताये हुये व्रत तप (रोजा रखना) अनुष्ठानोंको करनेवाले आत्मिकशक्तिको घटानेवाले, गर्भाधान आदि संस्कारोंको ताडनेवाले अथवा कुत्सित (हिंसामयी) मन्त्रोंसे करानेवाले उपदेश देनेवाले कुगुरुओंको स्नेहसे (हमारे सहपाठी हैं-दोस्त हैं) आशासे (इनके मंत्र तंत्र यन्त्रके मिलनेसे धन संपदा संतति मिलेगी) भयसे ये शाप दे देवेंगे राज्य दण्ड तथा चोरी आदि कराय देवेंगे, नौकरी छुडवाय देंगे, इत्यादि अनेक प्रकारके निमित्तसे भी प्रणाम और भक्ति भावों (भोजन देना, चढ़ा देना

बस साढे आठ महिना शेष रहे थे उतना समय भी उनके मोक्षप्राप्त हुआ था अतः अवसर्पिणी काल नहीं होता।

जिसप्रकार श्रीवर्धमान स्वामी कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको अंतिम पहरमें मुक्त हुए हैं तथापि सामान्यतासे लोक अमावस्याको निर्वाण तिथि कहते हैं-मानते हैं इसीप्रकार तृतीय कालमें ३ वर्ष ८॥ मास (८९ पक्षमात्र) शेष था (जो कि कोटाकोटी सागरकी अपेक्षा बिन्दुमात्र भी नहीं कहा जा सकता) तथापि स्वल्प होनेकी अपेक्षासे चतुर्थ कालमें ही गिना जाता है। वास्तवमें तो श्रीवर्धमानमोक्षप्राप्ति काल कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी ही है उसी प्रकार श्रीऋषभदेव भगवानका निर्वाण काल तृतीय काल (सुषमादुष्षमा) ही है।

मंदिर देना, उनका बनाइ पुस्तक बांटना आदिकों) को न करे ऐसा करनेमें सम्यग्दर्शनमें मलीनता आ जावेगी। ऐसा उपदेश है।

जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों ही अवयव एकसे हैं तो दर्शनको प्रथमता (मुख्यता) क्यों है ? इसका समाधान करनेके लिये चार कारिकायें बनाई हैं।

१ जैसे रत्नद्वीपमें जानेवाला यात्री जहाजमें बैठकर पहुंचेगा उसमें जहाज इंजन और नाखुदा (जो दिशा विदिशाओंका ज्ञाता याका देश तिब्यक मार्गोंमें ले जानेके लिये मोड़ता है चालने सुनायिकता करता है सो कर्णधार है) ये तीन साधन हैं उनमें नाखुदा (कर्णधार) प्रधान है। २ ज्ञान चारित्र की उत्पत्तिके लिये सम्यग्दर्शन बीजके समान है। ३ सम्यग्दृष्टि गृहस्थ उस चारित्रवान् मानुषसे श्रेष्ठ है जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है। ४ सम्यग्दर्शन तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ था और है तथा रहेगा। इसका विरोधी मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय विभाव) लोकत्रय-में जीवोंको दुःखदायक था और है तथा रहेगा। इन चारों हेतुओंसे सम्यग्दर्शनको प्रथम (मुख्य) माना है।

तथा इसकी मुख्यताके अन्य भी कारण हैं।

१ सम्यग्दृष्टि दुर्गतिमें नहीं जन्मेगा।

२-३ मनुष्य भी होगा तो उत्तम सजातीय कुलोंमें ही जन्मेगा और वह ओजस्वी आदि गुणोंसे विशिष्ट होगा। धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंका भोक्ता सद्गृहस्थ और लोकपूज्य (मान्य तिलक परिव्राजक) होगा।

४ तथा सम्यग्दृष्टि ही देव पर्यायमें वैमानिक महर्धिक देव

५ तथा चक्रवर्ती निधीश्वर सम्राट्शलाका पुरुष होता है।

६ और त्रिलोकपूज्य पंचकल्याणोंका भोक्ता तीर्थंकर अर्हन्त-पदको पावे है।

७ तथा नित्य शुद्ध सुखमय ज्ञानस्वरूप शिवपद पावे है।

इन सप्त परमस्थानोंमें आदिके सज्जाति १ सद्गृहस्थ २ और परिव्राजक ३ इन तीनों को तो मिथ्याती भी प्राप्त कर लेता है किन्तु अन्तके सुरेन्द्रत्व १ चक्रवर्ती २ तीर्थंकर ३ और निर्वाण ४ इन चार परमस्थानोंको सम्यग्दृष्टि ही पाता है। ऐसा बताया गया है।

इसप्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें ४१ इकतालीस कारिकाओं-की संगति व सूत्रबद्ध है। इसमें कारिका तो दूर रहो एक भी वाक्य या पद ऐसा नहीं है जो व्यर्थ हो—जिसके बिना अर्थसंगति व सूत्रबद्ध बना रहे यहांतक च वा एव अपि आदि अव्यय पद हैं वे भी अर्थविशेषोंके द्योतक हैं। जिसप्रकार तत्वार्थ सूत्रोंके समस्त पद अमोघ हैं उसीप्रकार इसके भी समस्त पद अमोघ हैं। जिसप्रकार सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोक-वार्तिक आदि टीकाओंमें प्रत्येक सूत्रोंके पदकृत्य व पूज्य-पाद अकलंक विद्यानन्दी आदिने विशद बता दिये हैं उसी तरह इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रत्येक कारिकाओंके पदकृत्य बतानेवाली बृहत् टीका (महावृत्ति) प्राचीन होनी चाहिये तलाश कर रहे हैं। आशा है कि हमें शीघ्र सफलता प्राप्त होगी।

अब सम्यग्ज्ञान परिच्छेद सम्बन्धी

बताते हैं

सम्यग्दर्शनके अनन्तर सम्यग्ज्ञान वर्णनीय है इससे प्रथम उसका स्वरूप लक्षण बताया है सम्यग्ज्ञान का वाच्य भाव श्रुतज्ञान (उपयुक्त श्रुतज्ञान) है जिसे आगम आम्नाय वे सूत्र श्रुत आदि नामो से बोलते हैं।

जिसके भेद ४ चार हैं। उनका स्वरूप विषय-आख्यात वाच्य और नाम एक एक कारिकाम बता कर इस द्वितीय परिच्छेदको पूर्ण किया है।

आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन है जो कि तीसरा रत्न है। इसमें ४७ से तालीसमी कारिकामें इनका समाधान बताया है कि उस चारित्रका अधिकारी (पात्र) कैसे पुरुष होते हैं ? और वे किसलिये उसे धारण करते हैं ? तथा वह धारण करने वाला क्या कहलाता है ?

४८ मी कारिकासे ज्ञात होता है कि जब राग द्वेषको हटाता है तब हिंसादि पाप स्वत छूट जाते ही हैं। जब धन पुरुषार्थ को नहीं चाहता है तब कोई राजा महाराजाकी सेवा करता है ? नहीं करता जैसे बाहुबली राजा इन्द्र वानरवंश, राजा बालि आदिकोंने जब मोक्ष पुरुषार्थका ग्रहण (स्वाद) कर लीना तब चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर रावण आदिकी क्या सेवा की ? नहीं की। किंतु महाव्रती ध्यानी हुये और वे ही उन्होंने पूजे।

४६ वीं में सम्यक्चारित्रका लक्षण और उसके स्वामी बताया है अर्थात् जो हिंसादि पापोंका परित्याग वैराग्यसे तथा राग और द्वेषके दूर करनेके लिये है वही सम्यक्चारित्र है। जो इन्द्रियोंके विषय भोगोपभोगोंको बढ़ानेकेलिये है वह समीचीन चारित्र कदापि नहीं होता ऐसा बताया है।

५० यह चारित्र दो प्रकारका है। पहला उन्होंके होता जिन्होंने परिग्रह आदि ग्रहोंका त्याग किया है। दूसरा गृहस्थोंके भी होता है। यह ग्रन्थ उपासक अर्थात्–गृहस्थोंका है इसने सकल चारित्र (महाव्रतों) को विशेष न कहकर श्रावका चारित्र ही वर्णन ५१ वीं आदि कारिकाओंमें कहा है।

५१ गृहस्थोंका चारित्र तीन हैं। उन से प्रथम अणुव्रतको बता कर अहिंसादि अणुव्रतका लक्षण और उनके अतिचार दश कारिकाओं में कह कर ६३ वीं कारिकामें इनका फल बताया है। ६४ वीं में प्रसिद्ध अणुव्रतियोंमेंसे एक एक नाम बताया है।

यद्यपि जयकुमारके पांचों ही अणुव्रत थे परन्तु स्वामीने परिमितपरिग्रह 'अणुव्रत में " जयकुमारका उदाहरण कहा है इससे यह ज्ञान होता है कि * पहले गृहस्थों भी परिग्रह है। जाति स्मरण होनेपर जयकुमारने अहिंसा अणुव्रतादि समस्त ही विकल चारित्रोंको धारण कर लिया था किन्तु इनका इच्छा परिमाण नामक पंचम अणुव्रत बहुत ही प्रशंसनीय प्रसिद्ध था।

६७ विकल चारित्र का दूसरा भेद जो गुणव्रत है उसका निरुक्ति और भेद बताये हैं।

६८ दिग्व्रतका लक्षण और फल बताया है आगे उनकी सीमा कह कर फल बताते हुये यह महाव्रतो सदृश हो जाता है किन्तु

---

* सो ही प्रभाचन्द्राचार्यने स्वयं टीका में बताया है कि "धनधान्यादिग्रन्थम्" इसमें जो आदिपद है उससे दासी दास मकान गृह क्षेत्र द्रव्य सुवर्ण रूप्य आभरण वस्त्र इत्यादिका भी प्रमाण होता है।

महाव्रती नहीं होता इसकी पुष्टिके लिये ७१ मी कारिका * है।

७२ यह गुणव्रती वर्धमान चारित्रवाला होता हुआ भी महाव्रती नहीं है क्योंकि महाव्रती तो इसप्रकारके हो होते हैं ऐसा इस कारिका में बताया है। आगे इसके अतीचार कहे हैं।

७४ शिवव्रता होने पर अनर्थदण्ड व्रत होता है जिसके भेद पाच हैं उनका स्वरूप बता कर अतीचार कहे हैं।

आगे ८२ मी कारिकामें भोगोपभोगपरिमाणका स्वरूप और प्रयोजन बता कर भोगका तथा उपभोगका लक्षण कहा है।

जो त्रसों किसी भी प्रकार योग्य (त्यागने योग्य) नही है उनका परित्याग बताया है। यदि यही त्यागोग तो अणुव्रत भी नष्ट हो जावेगे। तथा अभक्ष्य अनिष्ट और अनुपसेव्योंका भी परित्याग करे।

८७ उस भोगोपभोग परिमाणको रीति दो हैं नियम और यम ऐसा बताकर दो कारिकाओंमें नियमित कालके लिये १२ वस्तुओं का नियम करते रहो ऐसा उपदेश है पुन ९० मी मे अतीचार कह कर इस परिच्छेद को पूर्ण किया है। शिक्षाव्रताधिकार-

उस त्रिविध चारित्रका तीसरा भेद जो शिक्षाव्रत है उसके भेद और नाम ९१ मी कारिकामें बता कर देशावकाशिक शिक्षाव्रतका लक्षण और उसके स्वाम्य को बताया है आगे इसका द्रव्यावधि और योजनावधि कह कर कालावधि

---

* जिसका अर्थ शब्दशास्त्रका कारण शास्त्रके न जानने से यथार्थ नहीं जाना जाता इसमें शब्दशास्त्र (व्याकरण ...) की विशेषता है गंभीरता है।

प्रथम लक्षण–और तिथि कोन बनाया। उस उपवासके दिन पाप क्रियाओंको न करें। किन्तु धर्मचर्चा स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहे। निद्रा तन्द्रा आदि आलस्योंको भी न करे। आगे उपवास प्रोषध और प्रोषधोपवास का लक्षण कहकर अतीचार बताये हैं।

आगे १२१ वी कारिकातक वैयावृत्य शिक्षाव्रतका वर्णन है। तपस्वी महाव्रतियोंको भोजन पान प्रदान करना और उनका किसी प्रकारकी भी व्याधि न होवे, यदि हो गई हो तो उसका प्रतीकार करे उनके भक्तिपूर्वक हाथ पैर दाबे। उनके संयम-की वृद्धिके साधनोंका मिलाना तथा रत्नत्रयके विघातकोंका हटाना सो सब वैयावृत्य है। तथा नवधा भक्ति पूर्वक जो उद्दिष्ट त्यागियों का गौरव करता है सो दान है यह दान गृहारम्भी गृहस्थोंके पापोंको नष्ट कर देता है। तथा उनको प्रणाम (नमोस्तु) आदिके करनेसे सज्जाति आदि पुण्यकी प्राप्ति होती है। उचित समय पर स्वल्प भी अन्नादिकों का दान मनुष्य को मनोवांछित भोगोपभोगोंको प्राप्त कराता है। यहाँ चार दान होते हैं। आहार १ औषध २ उपकरण ३ और वसतिका ४ के प्रदान करने भी क्षुधादि रोगोंकी व्यावृत्ति होती है। इसमें ये वैयावृत्य हैं इनके करनेमें असंख्याते भव्योंने इष्ट सिद्धि की है उनमेंसे श्रीषेण आदि चार महापुरुषोंके उदाहरण क्रमसे बताये हैं।

तथा अर्हन्त भगवानके चरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा करे। उस निमित्त कर स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है जैसे श्री

वर्धमान स्वामीकी पुष्पमालसे पूजाके उद्देशसे जाते हुये मेंढक ने स्वर्ग प्राप्त किया था।

अर्थात् इस चतुर्थ शिक्षाव्रतमें जिनमन्दिर जिनप्रतिमा-स्थापन नित्य नैमित्तिक अष्टप्रकारी पूजन जीर्णोद्धार आदिका भी ग्रहण है क्योंकि इनके करनेमें अपने और जनता के पापाश्रवों की व्यावृत्ति (नाश) होना है इत्यादिक यह पर अतीचार बताये हैं।

अनन्तर १२२ मा कारिकासे आठ कारिकाओंमें सल्लेखना व्रतका कथन है। यह व्रत भी निरन्तर धारण करना चाहिये न जाने कब मरण हो जावे प्रत्येक दिन रात घड़ी पल विपल इनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जब मृत्यु अग्निदाह जलमग्न वज्रपात सर्प सिंह व्याघ्र पशु पक्षी मनुष्यादिकृत उपसर्ग न होते हों, न जाने कब आयुका अवसान (क्षय) हो जावे। इसलिये धर्मको न छोड़कर शरीरका त्यागना ही समाधिमरण है, इसीको सल्लेखना तथा [illegible] नाम भी कहते हैं। इसका होना [illegible] सर्वोंका फल है इसलिये इसका प्रति समय सल्लेखनाके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

धर्म यह इस प्रकारका है ऐसा बता कर अवान्तरोंको कह कर इसका फल ८ कारिकाओं में बताया है, जो कि अनन्त काल तक रहता है अनन्तर १३० मा कारिकामें इस रत्नत्रय धर्मका फल बताया है।

अथ १३६ मा कारिकामें उन श्रावकोंके चारित्रोंका (पद दशस्थानोंका) प्रतिमा (गुणस्थानरूप) सहित कहकर अनन्तर इनके ग्रन्थ चारित्र ११ कारिका ओंमें बताते हैं

अनन्तर यह बताया है कि प्रशंसनीय ज्ञाता वही है जो मिथ्या-त्वादि (विमार्गों) को कुचारित्रादिको तो शत्रु और उपयुक्त सम्यग्दर्शनादिको को बन्धु (हितकारी) मानता है वही अपना कल्याण करता है।

आगे श्रीसमन्तभद्र स्वामी बताते हैं कि इस ग्रन्थका नाम "रत्नकरण्ड है इसमें निर्दोष समीचीन रत्नत्रय है इनके करण्ड पिटारे-पात्र-आकार जो बनते हैं उनको समस्त अर्थों की प्राप्ति सुगम होती है।

श्री समन्तभद्रस्वामीका भावना है कि इस रत्नकरण्ड को रखते हुये जो मुझे सम्यक् रत्नत्रयकी वृद्धि हुयी है वह हमको सुख स्वभाव पालन करे और पवित्र करे।

इस प्रकार इन मूल कारिकाओंके अनुवाद "कर्त्ता भावना है कि मैं भी आगमानुराग-रत्नकरण्ड बनूं और वैदेही देह धारण कर शुक्ल ध्यानी क्षपक होऊं।

श्री समन्तभद्ररत्न करण्डाभिलाषी --गौरीलाल

उपोद्घात

वर्तमानमें जितने श्रावकाचार (उपासकाध्ययन) प्रसिद्ध हैं उन सबोंमें पूज्य प्राचीन माननीय और सूत्ररूप तथा विशद स्वरूप यही रत्नकरण्डश्रावकाचार है।

इसके निर्माता—रचयिता श्रीसमन्तभद्रस्वामी हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अर्हन्त देवकी स्तुति वन्दना पद्योंमें तर्कवाद द्वारा स्याद्वाद तत्त्वका स्वरूप सत्यमीमांसा की तथा जिनमार्गों की बहुत अच्छीतरह विशद बनाया है जिससे सर्वज्ञसिद्धि, [illegible]- पादविवेक, इहलोक परलोककी प्रसिद्धि, अनेकान्तात्मक ही वस्तु स्वरूप है, समस्त द्रव्य नय और प्रमाणके गोचर हैं, क्षायिकज्ञान ही प्रमाण है, [illegible] परम शुक्लध्यान साक्षात् शुद्ध मुक्त सिद्ध पदका कारण (असाधारण—असमान कारण) है, [illegible] इत्यादि वस्तुस्वरूपका बताने- [illegible] तथा व्याकरण गणित लोकविभाग [illegible] काल- विभाग, [illegible] ऐतिहासिक [illegible] कथानक चरित्र पुराण (जो कि करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोग सम्बन्धी उदाहरणरूप हैं) [illegible] (जो कि भोगभूमिज [illegible] मनुष्योंके स्थानमें कर्मभूमिज मनुष्योंके सहित में [illegible] प्रधान पुरुषोंके [illegible] हुये हैं,) स्मृति शास्त्र (जो प्रतिष्ठा आदि [illegible] [illegible] द्वारा [illegible] [illegible] I [illegible] और उनके [illegible] पद्धति, [illegible]) [illegible] शास्त्र (जिनमें [illegible]

चिकित्सा विधान आदि बतानेवाले) इत्यादि अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता शास्ता उपदेष्टा व्याख्याता स्वामी थे समस्त विषयके ध्यान चिंतन विचार चर्चा आदि थी, आपके भाव निरन्तर धर्मभावनाओंसे पुष्ट और सब की पर नतिसे भद्र थे हितकारी थे इससे समस्त व्रती अव्रती गण मुनिराज साधु परमेष्ठि लोग इनको "समन्तभद्र" साधक पदसे आह्वान करते थे।

इनके गुणोंकी प्रशंसा श्रावकस्ल जयधवलादि टीकाकारों ने की है, और उनके वचनोंके सूत्रोंका धारिका रोंकी कार्यों को दर्शनका और चारित्रका प्रशंसा करनेमें भी अपनेको असमर्थ (अशक्त) बताया है।

उन समन्तभद्र स्वामीका रचा हुवा यह रत्नकरण्डश्रावकाचार कितना महत्वपूर्ण है इसमें बताये हुवे विधि विधान कितने सातिशय पुण्यस्वरूप हैं।

इनके वचनोंसे सुसद्गति और रत्नत्रयकी उत्पत्ति वृद्धि पुष्टि और पत्प्राप्ति किस प्रकार हो जाय इत्यादि क्रम-अनुक्रम अत्यन्त सुगम रीतिसे बताया गया है।

इसके अनुकूल क्रिया करनेसे चारित्र के धारण पालन साधन और निर्वाह करनेसे मनुष्य स्वयं रत्नकरण्ड बन जाता है।

इस रत्नकरण्डश्रावकाचारकी वाक्यरचना व समन्तभद्र और उनका वाच्य वाचकविधान इतना उदाम प्रशंसनीय मनुष्योंके लिये हितकारी है जितना वृषभसेन आदि पूज्य

अतएव जो ऐहलौकिक पारलौकिक और अध्यात्म धर्म को धर्मामान करना चाहते हैं वे इस ग्रन्थको पढ़ें मनन करें और इसमें बतायेहुये रत्नत्रयमयी चारित्रोंको पालन करें।

—निर्वाचक

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारका प्रकाशन।

यह ग्रन्थ उतना ही मान्य पूज्य आदरणीय और सद्गगम माना जाता है जितना तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र। इसको प्रमाणता बड़े २ विद्वान् तपस्वी निर्ग्रन्थ जैनाचार्योंने अपने रचे हुए ग्रन्थोंमें टोकाओंमें भाष्योंमें तथा धवल जयधवल जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें मानी है।

इसका मूल का रेका १५० हैं इनमें इतना गंभीर प्रयोजनी-भूत अर्थ (तत्त्व) भरा हुआ है जितना देवागमस्तोत्रकी ११४ कारिकाओंमें जीवट्ठाणाके मूल सूत्रों मे, पेज्जदोस कसाय-पाहुडके गाथा सूत्रोंमे।

परन्तु इनमें से अर्थ निकालनेवाला ऐसा होना चाहिये जैसे अष्टशतो आप्तमीमांसाके कर्त्ता श्रीअकलङ्क देव, अष्टसहस्रीके रचियता विद्यानन्द स्वामी, तथा धवल और जयधवल सिद्धान्तके टोकाकार वीरसेन और भगवज्जिनसेन स्वामी।

इसमे जैसे यह पदार्थ शुद्ध निर्दोष हैं तैसे ही ये अध्यात्माओंको शुद्ध निर्दोषात्मक बनाते हैं।

इसकी यह संस्कृत टीका उन श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकी रची हुइ है जिन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड रचा ... तार्किक माननीय दृढप्रतिज्ञ प्रतिवादिभयंकर ...

इस टीकासे पद और पदार्थकी जानकारी होने से चारित्र संबंधी उदासी दूर होकर भव्य श्रावक उद्यमशील चारित्रवान बनते रहें इससे इसको मूलकारिकाओंके आगे प्रकाशित किया है।

तथा जो पद शब्द ऐसे हैं कि जिनका अर्थ- अन्यथा प्रसिद्ध है उनकी निरुक्ति द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार धातु प्रकृति प्रत्यय समास विग्रह आदि बता कर किया गया है तथा बहुतसे वाक्योंका अर्थ कारकके न जाननेसे नियमविरुद्ध हो रहा था उसको जैनेन्द्रव्याकरणके सूत्र बताकर कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति ज्ञात करायी गई हैं। कहीं पर यतिदोष (विश्रामदोष) मात्रादोष छन्दोदोष युक्त पढने पढाने लग गये उनको छन्दशास्त्रीय नियम टिप्पणोंमें बताये गये हैं।

कई एक सज्जन उपमान उपमेय आदि साहित्यसम्बन्धी अलंकार लक्षणादिकी यथार्थतासे विरुद्धताकी तरफ झुकते थे उनको भी यथार्थ भाव समझाया गया है।

बहुतसी बातें धूंडक सम्प्रदायी तारणपन्थी आदिकोंके सहवाससे अर्थोंमें अयथार्थ भाता था वह भी भावार्थों में जतलाया गया है। कुछ लोग इनमेंसे कई एक श्लोकोंको क्षेपक समझते और समझाते थे उनके लिये हृदयंगम (शृङ्खलाबद्ध लगाए) लगाया है जिससे प्रत्येक कारिकाकी अर्थसंगति ज्ञात होता रहेगा।

इसप्रकार यह रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ भव्य विद्यार्थी तथा चारित्रार्थी श्राद्धोंमें रत्नत्रयी धर्मको निरंतर वर्धमान करे ऐसी हमारी प्रिय भावना है। श्रीसमन्तभद्रभक्त —

गौरीलाल श्रावकाचाररत्नकरण्ड